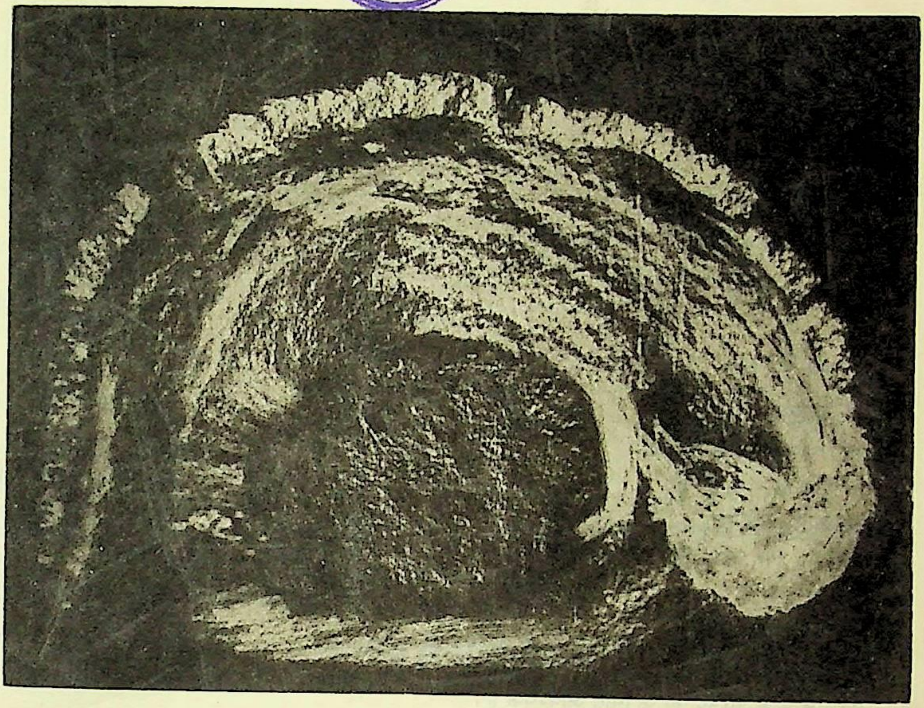
वागर्थ

अंक 31 □ अक्टूबर 1997 □ 10 रुपए



भारतीय भाषा परिषद प्रकाशन



वागर्थ

भारतीय भाषा परिषद
की
मासिक पत्रिका

संपादक
प्रभाकर श्रोत्रिय

वागर्थ- 31

मासिक साहित्य पत्रिका

अक्टूबर 1997

प्रकाशक

डॉ. कुसुम खेमानी

मंत्री, भारतीय भाषा परिषद

36 ए, शेक्सपीयर सरणी

कलकत्ता- 700 017

दूरभाष : 247 9962 दूरलेख : साहित्यिकी

मूल्य : एक अंक : 10 रुपए

व्यक्तियों के लिए :

वार्षिक : 120 रुपए / त्रैवार्षिक: 300 रुपए / पंचवार्षिक: 500 रुपए/ आजीवन: 1500 रुपए

संस्थाओं के लिए :

वार्षिक : 150 रुपए / त्रैवार्षिक: 350 रुपए / पंचवार्षिक: 600 रुपए/ आजीवन: 2000 रुपए

विदेशों के लिए : एक अंक : 100 रु./ वार्षिक : 1200 रु.

शुल्क भेजने का पता :

वागर्थ, भारतीय भाषा परिषद

36 ए, शेक्सपीयर सरणी, **पो. बॉक्स नं. 16130**

कलकत्ता- 700 017

(कृपया चंदा मनीआर्डर अथवा बैंक ड्राफ्ट से ही भेजें- बैंक ड्राफ्ट में 'वागर्थ, भारतीय भाषा परिषद' लिखें। यदि वार्षिक के लिए चेक से चंदा भेजें तो 130 रुपए का चेक भेजें।)

VAGARTH, Monthly Magazine
BHARTIYA BHASHA PARISHAD
36A, SHAKESPEARE SARANI, CALCUTTA-700 017

मासिक साहित्य पत्रिका **वागर्थ**

❑ अंक-31 ❑ अक्टूबर 1997

क्रम

वागर्थ/ अक्टूबर 1997

संपादकीय

पैंसठवीं कला

संसार भाँति-भाँति के कलाकारों से भरा पड़ा है, लेकिन कुछ लोगों को एक विशेष कला सिद्ध है— 'बोंसाईकरण कला'। समाज, राजनीति, साहित्य, विज्ञान— अर्थात् जहाँ, जिस क्षेत्र में कोई बड़ा काम करता दिख भर जाए; उसे यथाशक्ति घसीटते हुए, उसकी तमाम शाखा-प्रशाखाएँ कतर कर अपने बौने क़द तक ले आना इनका काम है। इनकी दृष्टि साधारण कलाकारों की तरह सिर्फ पौध पर नहीं रहती, बल्कि उन वृक्षों पर भी होती है जो 'इनके बावजूद' आकाश की ऊँचाई और विस्तार पाने में समर्थ हो चुके हैं। इस कला का जिक्र चौंसठ कलाओं में नहीं हुआ, लिहाज़ा इसे पैंसठवीं कला कहना होगा।

भारत की प्रतिभाएँ जो अंतरराष्ट्रीय हवाई अड्डे पर कतार बाँधे, हर समय खड़ी रहती हैं, उनसे अगर पूछा जाए कि 'इस गरीब देश ने अपने खून-पसीने की कमाई का लाखों करोड़ों रुपया तुम्हारी शिक्षा पर खर्च किया है, और तुम हो कि निर्यातातुर माल की तरह यहाँ डटे हो, तो वे भयाक्रांत-से इन्हीं कलाकारों की ओर इशारा करते पाए जाएँगे।

ऐसा नहीं है कि बड़े लोगों ने आजकल भारतभूमि में जन्म लेना ही बंद कर दिया हो। अगर ऐसा होता तो बड़े काम जहाँ-तहाँ क्यों दिखाई पड़ते, अगर उन्हें करनेवाले नहीं दिखते तो इसलिए कि काटछांट कर ड्राइंग रूम की सजावट में बदल दिए गए हैं, वे दूसरों की शोभा और गर्व का साधन बन गए हैं— पत्रकारिता, राजनीति, विज्ञान, उद्योग— यानी हर कहीं आप यह दृश्य देख सकते हैं; और जो सजावट का माल बनने से इन्कार करते हैं उन्हें उपेक्षा की तलछट में डाल दिया जाता है।

बड़ा काम करने वाले को बड़ा कहना पहले जन-समाज अपना कर्तव्य समझता था, क्योंकि वह उनमें अपना अक्स देखता था, उनकी प्रेरणा से अपने आदर्श और लक्ष्य तय करता था। महात्मा, महामना, लोकमान्य, नेताजी, लौह पुरुष, राजर्षि, सरकारी पदवियाँ नहीं थीं— जनता द्वारा दिया गया सम्मान था। संभव है तब बोंसाई कला का आविष्कार न हुआ हो, या वह अपने शैशव में हो। परन्तु अब मोर्चा इसके धाकड़ कलाकारों ने सम्हाल लिया है। साम्राज्यवादी मीडिया इनका परम गुरु है, जो आए दिन नए-नए करिश्मे करता रहता है। एक उदाहरण तो हाल ही का है। देखते-देखते उसने डायना को देवी बना डाला तो दूसरी ओर संयोग से उसी समय गुज़रीं मदर टैरेसा

को उसके समतुल्य कर दिया। कमाल है, कल तक जो मीडिया उसके रोमांस और रंगीनियों के चटखारे लेता था, वह मरते ही 'विश्व प्रियतमा' की छवि से मंडित कर दी गई और उस पर मुहर लगाने के लिए ऐसी हस्ती की मृत्यु का लाभ उठा लिया, जिसका पूरा जीवन अथक सेवा और करुणा की मिसाल था। लोगों की आँखें चौंधिया गईं, खासकर नई पीढ़ी की। वह किसे बड़ा माने, किसके आदर्शों पर चले? फिलहाल तो इतना भर हुआ है कि दो-चार लोग डायना की मृत्यु से दुखी होकर दुनिया से ही चल दिए और एक लड़की ने तो आत्महत्या इसलिए कर ली कि गरीब माँ-बाप उसकी 'डायना स्कर्ट' खरीदने की मांग पूरी न कर सके। मदर टैरेसा की मृत्यु का संताप एक संकल्प को जन्म देता है और डायना की मृत्यु का यह प्रायोजित दुःख आवेगों से प्राण लेता है। किसी व्यक्ति को ऊपर उठाने के लिए समतुल्यता का शिल्प रचते हुए क्या इस आक्रामक माध्यम ने पल भर को भी यह सोचा होगा कि वह मनुष्यता के लिए कौन-सा खेल रच रहा है? कितना भ्रांत, कितना संक्रामक, कितना आवेगशील! खेर, यह भी बोंसाईकरण की एक प्रविधि है, जिसमें पश्चिमी कीमियागिरी की कोई सानी नहीं।

लगता है भारत की आज़ादी, उसके नैतिक मूल्य, उसकी सांस्कृतिक और मानवीय धरोहर साम्राज्यवादी आकांक्षा से लैस पश्चिम की आँखों में गड़ रही है; वह बौद्धिक, आर्थिक,वैज्ञानिक शिकंजों में इसे कसने को बेताब है। (और इसमें भी शक नहीं कि हमारा बोंसाई नेतृत्व उसके आगे समर्पण की मुद्रा में है। आखिर डायना-टैरेसा प्रसंग में हमारे मीडिया ने भी तो वही सब किया है।) क्रमशः भारत के प्रतिमानों को ध्वस्त करने और बौना बनाने की साजिशें की जा रही हैं। पिछले दिनों अंग्रेजी में एक पुस्तक आई थी, जिसमें परमहंस रामकृष्ण और स्वामी विवेकानन्द के संबंधों को लेकर इतना घृणित चारित्रिक लांछन लगाया गया है, जिसका एक शब्द भी दोहराना कीचड़ को प्रमाणित करने के लिए कीचड़ में हाथ सानना है। बीसवीं शती की इन विभूतियों के माध्यम से भारत की अध्यात्म-गरिमा को दूषित करने के इस प्रयत्न के पीछे कौन-सी दृष्टि और मानसिकता रही होगी? इतिहास में पैठ कर व्यवस्था, विचार,व्यक्ति आदि की कटुतम आलोचना; यदि सत्य को जानने, उससे नई जीवन-दृष्टि पाने, इतिहास को गलत समझने की त्रासदी से लोगों को मुक्त करने आदि के लिए की जाती है तो यह इतिहास की पुनर्यात्रा या पुनर्मल्यन का एक सार्थक पथ होता है। लेकिन वहाँ घुस कर, चुन-चुन कर किसी देश के आस्था-केन्द्रों को ध्वस्त करने के बहाने उस देश को हीनता-बोध और आत्म-घृणा से भरकर अपना निहित स्वार्थ साधने की प्रवृत्ति बौद्धिक सम्पदा का ऐसा दुरुपयोग है जो समूची मानवता के प्रति अक्षम्य अपराध की कोटि में आता है।

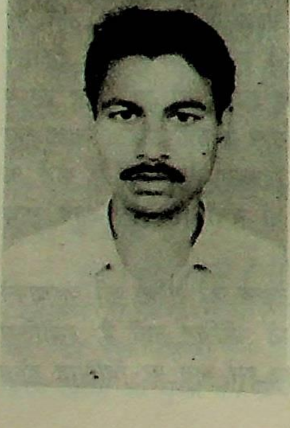
एक और साहब हैं पैट्रिक फ्रेंच। उनकी अभी-अभी एक पुस्तक आई है 'लिबर्टी ऑर डेथ' (आज़ादी या मौत) भारतीय स्वाधीनता की स्वर्ण जयन्ती पर पश्चिमी साम्राज्यवादी प्रवृत्ति द्वारा दिया गया यह एक तोहफा है। इसमें भी तुलना की वही प्रविधि और मानसिकता है, जिसका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। गांधी और जिन्ना की तुलना पुस्तक का कथ्य प्रतीत होता है; परन्तु मूलतः

वह भारत की सोच, जीवन-प्रक्रिया, मूल्य, संघर्ष और अवदान को निरर्थक सिद्ध करने की बौद्धिक और तार्किक साजिश का उत्पादन है। पैट्रिक की तराजू के एक पल्ले में वस्तु की जगह गांधी और दूसरे पल्ले में बाट की जगह जिन्ना हैं, जो अपनी वेशभूषा, तौर-तरीकों, कानूनी तार्किकता और उपनिवेशवादी आकांक्षाओं की पूर्ति जैसे दिखाई पड़ने के कारण, पश्चिम को अपने निकट लगते हैं। शायद इसीलिए गांधी पर आक्रमण करने के लिए उनका सहारा लिया गया है और इस बहाने भारतीय स्वाधीनता के प्रति खीझ और कुंठा व्यक्त की गई है। गांधी की आलोचना में जिन्ना को यह कहते उद्‌धृत करना शायद सतही कानूनी दलील की एक मिसाल हो सकती है कि 'गांधी तीसरे दर्ज़े में अपने अनुयायियों के साथ यात्रा करते हैं, उससे कम खर्च मेरी प्रथम श्रेणी यात्रा में आता है क्योंकि मुझे सिर्फ एक टिकट खरीदना होता है।' यह तो वही बात हुई जैसे कोई कहे कि 'आप दस लोगों के साथ बैठकर भात खाते हैं, उससे तो मेरा पाँच सितारा में बैठकर खाने में कम खर्च आता है, क्योंकि वहाँ सिर्फ मुझे खाना होता है।' जिन्ना, जैसा कि लेखक ने कहा भी है कि सामाजिक भद्र (सोशल एलिटिस्ट) थे और 'मिट्टी की छुअन से अपने हाथ पाक-साफ' रखना चाहते थे, तो फिर उनसे अर्द्धनग्न, झोपड़पट्टी में बैठने और खाने वाले गांधी की तुलना कैसे की जा सकती है? मगर की गई है और बाकायदा पक्षपात के साथ। तमाम युक्तियों, उद्धरणों और संदर्भों से लेखक ने जो सिद्ध करना चाहा है उस पर भरोसा करें तो गांधी मात्र 'गुजराती बनिया' ठहरते हैं। पुस्तक एक अकल्पनीय और अछूती जानकारी देती है कि— 'गांधी आज़ादी के आंदोलन में अत्यधिक निष्फल कर देनेवाली अनवरतता थे।' अगर आपको ऐतिहासिक घटनाक्रम और परिणतियों का पता न हो या आप उनसे न गुज़रे हों तो लगेगा कि गांधी के अवरोधों के बावजूद भारत को आज़ादी मिल गई (या दे दी गई!)। पैट्रिक फर्माते हैं कि 'गांधी बात तो सत्य की करते थे, लेकिन सत्य को पहचानने में उन्हें हर वक्त परेशानी होती थी। उनका सत्य स्थिर नहीं था, अवधारणाओं के अनुसार इधर-उधर बहता रहता था और ज़्यादातर निजी सनक (Whim) से संचालित होता था। यही 'सत्य' राजनैतिक समझौते का कारण बनता था, जबकि उससे शायद ही कोई सहमत होता था।' आश्चर्य है कि इतने चतुर अंग्रेज शासक और गांधी के प्रबुद्ध सहकर्मी 'असहमत' होने पर भी, उस 'सत्य' से समझौता कर लेते थे! सत्य को लेकर बहुत बहसें हुई हैं, उन्हें यहाँ दुहराना नहीं चाहूँगा, लेकिन इतना कहना आवश्यक है कि लौकिक 'सत्य' कोई स्पष्ट , दो टूक, जड़ प्रत्यय नहीं है। जब विज्ञान में भी एक सत्य को निरस्त करता कोई अगला सत्य स्थापित किया जाता रहा है तो मानव जीवन से संबंधित सत्य अविचल कैसे रह सकता है? दिनकर के शब्दों में कहें तो 'सत्य जानना हो तो पहले अपनी शिखा कटाओ।' आपकी 'शिखा' भी बची रहे और आप सत्य को भी जान लें, इस दोहरी चाल से 'सत्य' नहीं जाना जा सकता।

लेखक शायद इतने व्यापक जन-अनुसरण और जनान्दोलन के नेतृत्व की शक्ति को पहचानने का आदी नहीं है। वह संभवत: नेतृत्व की जनोन्मुखी परिभाषा से भी परिचित नहीं है, इसीलिए लोकानुसरण को चापलूसी की संज्ञा देता है। एक पाश्चात्य लेखक का इस बात पर विस्मित होना

स्वाभाविक है कि गांधी विचारधारा के प्रतिपादन की बजाय मानसिकता या मन की शुद्धि पर जोर देते थे! यह सब उसे, अंग्रेज शासकों की भाँति भ्रामक पद्धतियाँ लगती हैं। फिर भी मन:शुद्धि, धुंधले विचार, तोड़-मरोड़ करने और भ्रामक पद्धतियाँ अपनाने वाला व्यक्ति अंग्रेजों को इतना चतुर, चालाक क्यों दिखता था— 'जैसे गाड़ी भर बंदर।' दरसल भौतिकवादी, साफ-चुस्त, श्रूड और स्वार्थग्रस्त लोगों द्वारा भारत को और भारतीय नेतृत्व को इस अर्थ में समझना वैसा ही है जैसे पहले तो 'कुत्ते को बिल्ली समझा जाए और फिर कहा जाए कि वह खराब बिल्ली है।' 'अंतरात्मा' को लेकर भी अंग्रेज शासक काफी परेशान रहे हैं। उन्हें शायद यह पता नहीं कि जननेता की 'अंतरात्मा' अकेली नहीं होती, जनता की इच्छा, आकांक्षा आदि उसकी 'अंतरात्मा' में समाहित होती है। इसीलिए जहाँ-तहाँ थोड़ी-बहुत असहमति के बावजूद गांधी की अंतरात्मा की आवाज़ भारतीय जनता तो सुन सकी, लेकिन अंग्रेज शासकों से वह अनसुनी रह गई। पैट्रिक की इच्छा थी कि गांधी की आत्म-कथा में आज़ादी के आंदोलन का इतिहास भी पढ़ने को मिलना था, जबकि वह सत्य, शाकाहार, अहिंसा के प्रयोग आदि की बात करती है। क्या उन्हें यह बताया जाए कि आत्म-कथा गांधी का आत्म-मंथन और आत्म-साक्षात्कार है; आत्म प्रदर्शन या अपने बहाने इतिहास-लेखन नहीं। अपने निजी गुणों के कारण वह संसार की श्रेष्ठ आत्म-कथाओं में है। गांधी की जो बातें अंग्रेजों की समझ में नहीं आती थी, वही अगर करोड़ों भारतीयों की समझ में आती थी, तो 'युवा इतिहासकार' पैट्रिक को जाँच करनी थी कि असली गड़बड़ी कहाँ है? लेकिन ऐसी पुस्तकें, लगता है, किसी देश या समाज को गंभीरता से समझने के लिए नहीं लिखी जातीं, बल्कि किसी निहित स्वार्थ के दबाव में लिखी जाती हैं। और कुल मिलाकर किसी देश, समाज या उसके धुरी पुरुषों का बोंसाईकरण करने के लिए। यह ठीक है कि ऐसे प्रयास क्षणजीवी होते हैं,परन्तु लोक-मानस को कुछ न कुछ तो प्रदूषित करते ही हैं। इसलिए इनका धिक्कार एक अनिवार्य मानवीय दायित्व है।

- प्रभाकर श्रोत्रिय

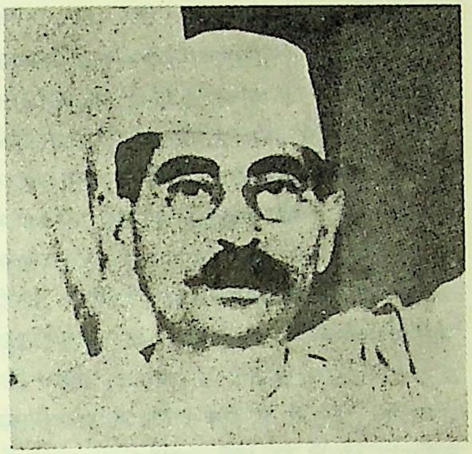


नागेश : तीस वर्षीय कलाकार नागेश (नागेश्वर शर्मा) ने अन्य चित्रकारों से अलग रास्ता अपनाया है। वे मोटे रंगीन आर्ट पेपर पर पत्थर, चाकू, कैंची आदि से खुरचकर चित्र बनाते हैं। उन्होंने कलकत्ता पुस्तक मेला और स्थानीय स्तर पर प्रदर्शनियाँ कीं। युवा चित्रकार ने जल्दी ही अपनी पहचान बना ली। वागर्थ में पहले भी आप उनके चित्र देख चुके हैं। – संपादक

स्मरण

प्रेमचंद पुण्य तिथि के अवसर पर

वयोवृद्ध (85 वर्षीय) आचार्य-कवि केसरी कुमार की युवा काल की प्रायोगिकता, वैचारिकता और विद्वत्ता सुपरिचित है। इधर वर्षों से वे पक्षाघात से पीड़ित हैं पर उन्होंने हार नहीं मानी है। वे बाएं हाथ से लिखते हैं। प्रेमचंद पर उनका यह आलेख बिहार और प्रेमचंद, प्रेमचंद की भाषा चेतना, प्रेमचंद की सरकारी जन्मशती प्रेमचंद के विचार, प्रेमचंद के अनुवाद जैसे अनेक पक्षों को समेटते हुए या बिखेरते हुए एक संस्मरणात्मक विवेचन है। लेखक की स्वस्थता की कामना करते हुए पाठकों के सम्मुख उनका यह ताजा लेख प्रस्तुत है। -संपादक



केसरी कुमार

प्रेमचंद को याद करते हुए

हिन्दी कथा-साहित्य की अमर पहचान और आडम्बरहीन बिहार के लिए सबसे लाड़ले-प्यारे कथाकोविद आडम्बरहीन प्रेमचंद हैं और संयोग देखिए कि उन पर प्रथम आलोचनात्मक पुस्तक यहीं के पं. जनार्दन झा 'द्विज' की 'प्रेमचंद की उपन्यास-कला' है और उनके सर्वश्रेष्ठ समीक्षक भी यहीं के नलिन विलोचन शर्मा हैं। प्रेमचंद की 'रंगभूमि' का भाषा-संशोधन शिवपूजन सहाय ने किया था। प्रेमचंद की कथा-परम्परा को नागार्जुन और रेणु ने आगे बढ़ाया। प्रेमचंद के सर्वाधिक प्रिय व्यक्ति, जिन्हें वे प्रेस आदि का प्रभार सौंप देना चाहते थे, रामवृक्ष बेनीपुरी और राधाकृष्ण थे। प्रेमचन्द की एक कहानी 'रक्षा में हत्या' मासिक 'बालक' में छपी थी और असंगृहीत रह गई थी। 'बालक' के संपादक रामवृक्ष बेनीपुरी ने तदनन्तर बिहार की ओर से भेंट स्वरूप परवर्ती संग्रह के लिए इसे सुलभ किया (मुझे याद है)। भारतीय प्रशासनिक सेवा के केसरी किशोर शरण ने छात्र के रूप में पटना कॉलेज हिन्दी साहित्य परिषद के लिए इन्हें प्रथम और अंतिम बार बुलाया था और राष्ट्रपति डॉ. राजेन्द्र प्रसाद, जो स्वभाव की सरलता और रहन-सहन की सादगी में प्रेमचंद की ही पाठशाला के थे, प्रेमचंद की मूर्ति का अनावरण करने उनके गाँव, लमही में गए थे जो जीरादेई की तरह साहित्य के जिज्ञासुओं का एक तीर्थस्थल है। तब लमही की सड़क भी बन-ठन गई थी। राजेन्द्र बाबू ने तब कहा था— 'प्रेमचंद के प्रति सबसे बड़ी श्रद्धांजलि उस भाषा की सुरक्षा है जो प्रेमचंद की थी, जिसके लिए वे जीवन भर मजदूर बनकर कलम को कुदाल, फावड़ा बनाते रहे, हिन्दी के खेत को उर्वर रखते रहे।'

प्रेमचंद भी बिहार से अभिभूत थे। उनके शब्द हैं— 'बिहारियों का हृदय सचमुच महान् है। उनकी जैसी दरियादिली मुझे कहीं नहीं मिली '

गरीबी और नाना प्रकार की रूढ़ियों में आकंठ डूबे और फिर भी मुक्ति के लिए छटपटाते हुए भारत की सम्पूर्ण अस्मिता को सामान्य आदमी की कथा में हस्तमलकवत उतारने और सामान्य आदमी के सभी रिश्तों को विशाल भारतीय परिवेश में व्यूहित करके देखने वाले महाप्राण कथाकार प्रेमचंद का जन्मशताब्दी-समारोह हमने (बिहार हिन्दी साहित्य सम्मेलन ने) हिन्दी संघ के अपराजेय तपोपूत सेनानी भारतरत्न राजर्षि पुरुषोत्तमदास टंडन और भारत के मुक्ति-संघर्ष एवं एकता के प्रणव स्वर सुब्रह्मण्य भारती के शती-समारोहों के साथ ही मनाया। 9,10,11 जुलाई 1982 को, जिनमें प्रेमचंद के प्रिय जैनेन्द्र कुमार और श्रीमती महादेवी वर्मा पधारे थे।

आर्थिक दबाव तो था ही पर उससे भी महत्त्वपूर्ण कारणों में एक तो यही था कि राजर्षि, भारती और प्रेमचंद जैसे महापुरुषों में से किसी एक का भी ध्यान करते ही उस समूचे कालखंड का ध्यान हो आता है जिसे महामानवों का काल या सम्पूर्ण जागरण का काल भी कहा जाता है, जो पाश्चात्य सभ्यता और अंग्रेजी शासन की टकराहट से, उसके विरोध में आया था, न कि ब्रिटिश शासन और अंग्रेजी शिक्षा के प्रसाद स्वरूप जैसा कुछ प्रतिगामी इतिहासकार मानते हैं और जिसमें न केवल राजनैतिक स्फुरण हुआ था बल्कि जिसमें भारतीय संस्कृति की पुनर्व्याख्या और भारतीय समाज का पुनर्गठन भी हुआ था।

उस संकल्प की बात करते समय हम इस पीड़ा का अनुभव भी कर रहे हैं कि कहाँ वह जागरण-काल जिसकी जमीन इतनी उर्वर, इतनी जरखेज थी कि जीवन के किसी कोने में, अनुभव के किसी स्तर पर, ज्ञान-विज्ञान, साहित्य-कला-शिल्प, दर्शन-मीमांसा, किसी भी क्षेत्र में रोपा गया हर बिरवा बटवृक्ष हो गया, जब कृति के हर क्षेत्र में अजेय सीमाएँ बन-बन गई, उत्तुंग श्रृंग रच-रच गए, अपूर्व कीर्तिमान खड़े हुए, जब जागरण का दिनमान ठीक माथे पर था, उस ऊसर में भी केसर उगता था और आज क्या हो गया कि हम अचानक बौने हो गए?

एक और बात बड़ी प्रबलता से आई थी कि मुक्ति संघर्ष के उस जागरण काल में लक्ष्य तो एक था पर लक्ष्य-वेध की शैलियाँ अनेक थीं। इन पद्धतियों को जाने बिना उस लक्ष्य-वेध की सम्पूर्ण प्रक्रिया को हृदयंगम नहीं किया जा सकता। इस हृदयंगमन के लिए भी यह समन्वित जन्मशती-समारोह आवश्यक जान पड़ा। देखिए न, राजर्षि पुरुषोत्तमदास टंडन उस आन्दोलन-शैली को उजागर करते थे जिसका प्रचलित नाम सत्याग्रह था। इसमें सिविल नाफरमानी आन्दोलन के सारे उपादान झंडा, घोषणा-पत्र, नारे, सभा, जुलूस, हड़ताल, धरना, अनशन आदि तो थे पर जिसमें राजनीति ने सद्भाव नहीं छोड़ा था बल्कि जिसमें राजनीति ने देश के सामाजिक और सांस्कृतिक दायित्वों को भी स्वीकारा था और जिसमें साध्य के साथ साधन की शुचिता और पवित्रता पर भी ध्यान था।

इससे अलग एक और क्रांति पद्धति थी जिसमें एक जेब में पिस्तौल और दूसरी में 'गीता' होती थी। इस पद्धति में काली मंदिर और भारतमाता की बलिवेदी का अन्तर मिट गया था और गणेश-मेला शहीदों और बलिपंथियों का मेला बन रहा था। इस पद्धति में राजनीति और धर्म में परस्पर एक गोपन सम्भाष्ण हुआ था। उसमें राजनीति समसामयिक धर्म थी और धर्म सर्वकालीन राजनीति। जो इतिहासकार भारत के मुक्ति-संघर्ष के दौरान होनेवाले इस धर्म-राजनीति-संवाद को नहीं सुनते वे उस काल का वास्तविक और रचनात्मक इतिहास नहीं लिख सकते। सुब्रह्मण्य भारती के काव्य का बहुलांश इसी रहस्यपूर्ण संवाद को लिए है।

प्रेमचंद इन दोनों से भिन्न और अलीक हैं। वे उनके अग्रणी हैं जो उस काल की सरस्वती की तरह बेपहचान रहकर भीतर से संगम के प्रवाह की गति और तेज प्रदान करते रहे हैं। गांधीजी की दांडी यात्रा के समानान्तर प्रेमचंद की कथा-यात्रा हुई। मुट्ठी भर नमक के लिए हुई दांडी-यात्रा अपने बुनियाद, प्रभाव और परिणाम में जितनी महिमामंडित थी, उतनी ही सुप्रचारित थी— झंडा-पताका से लैस, उद्घोषणाओं से भरपूर तथा गायन-वादन से झंकृत एक जुलूस, दूसरी तरफ प्रेमचंद की कथा-यात्रा उतनी ही मासूम, न कोई घोषणा-पत्र, न मोड़ का झटका, न शोर-शराबा, न दिङ्ग नाद, न शहीदी बाना और आमूल क्रांति हो गई, अलोमहर्षक क्रांति। हाँ, भूतनाथ के हीरो से 'गोदान' के होरी की यात्रा एक बेपनाह पर अलोमहर्षक क्रांति-यात्रा है।

इस प्रकार टंडन, भारती और प्रेमचंद तीनों मिलकर ही अपनी शताब्दी की व्याख्या पूरी कर पाते हैं। समन्वित रूप से इनकी जन्मशती मनाने की एक और सार्थकता थी, यह उदाहृत करना कि हिन्दी भारत की सामासिक संस्कृति की सर्वमान्य भाषा है।

प्रेमचंद का मत था कि, 'जिस दिन आप अंग्रेजी भाषा का प्रभुत्व छोड़ देंगे और अपनी एक कौमी भाषा बना लेंगे उसी दिन आपको स्वराज्य के दर्शन हो जाएंगे।'

भारत भर में प्रेमचंद की जन्मशती मनाई गई थी किन्तु इस शताब्दी में राजनीति हावी रही और संगोष्ठियों में रचनात्मक उपगमन के बजाय परस्पर विरोधी स्थापनाएँ उजागर रहीं मानो वाद-विवाद-प्रतियागिता हो। प्रेमचंद कलम के मजदूर थे या कलम के सिपाही याकि कलम के सौदागर? गाँधीवादी थे या मार्क्सवादी? अव्यवहारिक थे या कांइयाँ? गरीब थे या खाते-पीते आदमी, बेटी के विवाह में दहेज देनेवाले और बैंक में दस हजार रखनेवाले? अमृत राय ने अच्छा मजाक किया था कि वे आशिक भी थे, एक घसगढ़िन से मोहब्बत जो थी। यह भी कहा गया कि वे मूलतः उर्दू के लेखक थे, जब आर्यसमाजी हुए तब उनसे हिन्दूपन की बू आने लगी। इसे यह कहकर प्रेमचंद के बड़प्पन का प्रमाण माना गया कि हर बड़े आदमी की शताब्दी पर ऐसी बात होती है। गालिब की शताब्दी पर 'गालिब बेनकाब' लिखा गया, रवीन्द्र शताब्दी पर 'रवीन्द्रनाथेर मानसी' और शरत्चंद्र शताब्दी पर उन्हें देवता से 'चरित्रहीन' तक कहा गया।

इस अवसर पर भारत सरकार की ओर से देश के प्रमुख शहरों में प्रेमचंद-प्रदर्शनी लगाई गई थी पर सरकारी छाप प्रदर्शनियों से भी 'लतमरूया' हिन्दी साहित्य की प्रदर्शनियों का क्या हाल होता है इसका एक ज्वलंत उदाहरण है बिहार हिन्दी साहित्य सम्मेलन भवन, पटना में 13 जून 1981 से लगी 'मुंशी प्रेमचंद-जीवनी और साहित्य प्रदर्शनी'। इसका उद्घाटन किया था बिहार विधान सभा के अध्यक्ष माननीय राधानन्दन झा ने तथा उद्घाटन-गोष्ठी की अध्यक्षता की थी श्री श्यामले नबी, राज्यमंत्री, स्वास्थ्य परिवार कल्याण, सूचना एवं जनसम्पर्क, बिहार सरकार ने। इस प्रदर्शनी के संयोजक थे— मुजफ्फर अहमद, क्षेत्रीय प्रदर्शनी अधिकारी, डी.ए.वी.पी. भारत सरकार। मुख्य द्वार पर लिखा था— davp। पूछने पर मालूम हुआ कि विन अभी लोकप्रयि नहीं हुआ है। पूरे शब्द हैं— Directorate of Advertising Visual Publicity विन = विज्ञापन निदेशालय। इस प्रदर्शनी में एक चित्र था जिसमें प्रेमचंद और उनके प्रथम कृती आलोचक जनार्दन झा 'द्विज' बैठे हैं पर उस पर लिखा था प्रो. इन्द्र वाचस्पति एवं प्रेमचंद। एक चित्र में लिखा था जयशंकर प्रसाद और प्रेमचंद लेकिन इस प्रसाद (?) के कुर्ते पर साहित्य सम्मेलन के तेईसवें अधिवेशन का बिल्ला लगा था। उम्र में वह व्यक्ति प्रेमचंद से बहुत छोटा लगता था—

एक किशोर स्वयंसेवक। गलत आदमी। प्रेमचंद, ऋषभचरण और जैनेन्द्र का एक प्रसिद्ध चित्र था पर इसे शीर्षकहीन, बे-पहचान रहने दिया गया था। सफाचट्ट (क्लीन शेव्ड) वैष्णव छापवाले दद्दा जी (मैथिली शरण गुप्त) के चित्र पर महावीर प्रसाद द्विवेदी लिखा था। एक अन्य चित्र में श्रीनारायण चतुर्वेदी को महावीर प्रसाद द्विवेदी लिखा गया था। एक मास्टरनुमा और गांधी टोपी पहने आदमी के चित्र को रायकृष्णदास कहकर पेश किया गया था। इस चित्र के ठीक नीचे गाल पर हाथ रखे रायकृष्णदास के चित्र को शीर्षकहीन, बे-पहचान रहने दिया गया था। कितना कहा जाय? यह तो सामान्य शील है सरकारी व्यवस्था का।

रफू करे कोई कहाँ तक इसकी
नहीं गरेबाँ में चाक बाकी।

प्रेमचंद की प्रथम महाप्राण पहचान है भाषा-चेतना। उन्होंने कहा था कि— 'रवीन्द्र-शरत दोनों महान हैं। पर हिन्दी के लिए क्या वही रास्ता है? शायद नहीं। हिन्दी राष्ट्रभाषा है।' उन्होंने स्वयं अपना नाम रखा था प्रेमचंद, 'प्रेमचंद्र' नहीं।

प्रेमचंद हिन्दू - हिन्दुस्तानी के तत्कालीन विवाद में नहीं पड़े और कौमी जुबान का प्रतिमान उपस्थित करके रख दिया। विडम्बना देखिए कि जो भाषा-विवाद में पड़े उनसे राष्ट्रीय भाषा का उदाहरण पेश करते न बन पड़ा और प्रेमचंद ने बिना विवाद में पड़े इसे सिद्ध करके दिखा दिया।

उनकी दूसरी शिनाख्त है सर के बल चल रहे सौंदर्य-शास्त्र को पैरों पर खड़ा करना— हीरो को 'होरी' बना देना। जीवन के बीहड से दूर-दूर भाग रहे कथा-साहित्य को जीवन की घाटियों में आमंत्रित करना। दारोगा को 'नमक का दारोगा' के रूप में पेश करना, कोरी कल्पना का 'नशा' उतार देना और पंच को परमेश्वर का मिथक देना, प्रत्यायुक्त यौन को रचनात्मक वर्जना मानना और इस प्रकार सौंदर्य के निकष को अद्यतन करना। प्रेमचंद के शब्द हैं— 'हमें सुन्दरता की कसौटी बदलनी होगी। अभी तक यह कसौटी अमीरी और विलासिता के ढंग की थी। हमारा कलाकार अभावों की दुनिया की मनुष्यता की परिधि से बाहर था।' यही 'अभावों की दुनिया की मनुष्यता' प्रेमचंद के साहित्य की कशिश है।

प्रेमचंद के मुक्ति-कालीन इस कथा-साहित्य की अमर पहचान बनती है उसके उस कथ्य से जो भारत के बारे में तो क्या पूरा भारतवर्ष है, जागरण-उत्प्रेरित, स्वतंत्रता-संघर्षरत भारत, पोर-पोर संघर्षरत भारत, दरिद्रता और रूढ़ियों में आकंठ डूबा पर गतिशील भारत और उस परम नवल कथा-कला से जो कथ्य और शिल्प के स्थापत्य से उसे श्रेण्य (क्लासिकल) बनाती है।

इस प्रकार प्रेमचंद में हिन्दी राष्ट्रभाषा की भूमिका भी भरती है और हिन्दी कथा-साहित्य राष्ट्र साहित्य का श्रेष्ठांश भी।

प्रेमचंद हिन्दी को कौमी भाषा कहते थे और उसे अखिल भारतीय रूप देना चाहते थे। वे हिन्दी को सभी भाषाओं के साहित्य का संवाहिका बनाना चाहते थे। इसके लिए 'हंस' को कन्हैयालाल माणिकलाल मुशी के साथ अखिल भारतीय पत्रिका बनाया और तरुण लेखकों को अनुवाद के लिए प्रोत्साहित किया।

यह 'हंस' भारत की आजादी का जैसे सफरमैना था। एक जगह प्रेमचंद ने लिखा भी है— 'हंस' भी मानसरोवर की शांति छोड़कर अपनी नन्हीं-सी चोंच में चुटकी भर मिट्टी लिए हुए, समुद्र पाटने आजादी की जंग में योग देने चला है।'

उनके अनुसार 'स्वाधीनता मन की एक वृत्ति है। इस वृत्ति को जगाना ही स्वाधीन हो जाना है'

वजीफे और उपाधि के प्रति उदासीन थे। 'पुरस्कारों का विचार करना मैंने छोड़ दिया है। अगर मिल जाए तो ले लूँगा, पर इस तरह जिस तरह पड़ा हुआ धन मिल जाए।' पर जन-सम्मान

की और बात थी— 'अगर जनता की रायसाहबी मिलेगी तो सिर आँखों पर। गवर्नमेंट की रायसाहबी की इच्छा नहीं।'

प्रेमचंद गर्वपूर्वक अपने को कलम का मजदूर मानतें थे— 'मैं तो मजदूर हूँ। तुम फावड़ा चलाते हो, मैं कलम चलाता हूँ।' बल्कि वे लेखन को साधना के रूप में मानते थे कि 'मैं मजदूर हूँ। मजदूरी किए बिना भोजन करने का अधिकार मुझे नहीं है।'

अपने लेखन से एकतान होने का नैसर्गिक सुख उन्हें सदा रहा— 'मैं स्वयं देहाती हूँ और मैंने अपनी कृतियों के माध्यम से अपने देहाती भाइयों के ऋण को उतारने का प्रयत्न किया है '

और खेती को तो आत्मा की नसेनी ही कहते थे। 'कुछ जिद्दी हूँ और हार नहीं मानना चाहता। खेती करता तो उसमें भी इसी तरह चिमटता।'

प्रेमचंद को गरीबों का मसीहा अकारण नहीं कहा जाता। उनके अपने ही शब्द हैं— 'किसी राष्ट्र की सबसे मूल्यवान वस्तु या सम्पत्ति उसके साहित्यिक आदर्श होते हैं— जो दलित है, पीड़ित है, चाहे वह व्यक्ति हो या समूह, उसकी हिमायत या वकालत करना साहित्यकार का फर्ज है। उसकी अदालत समाज है।'

प्रेमचंद 'आदर्शोन्मुख यथार्थवाद' (उनके ही शब्द) से आरम्भ कर(संसार का सबसे अनमोल रत्न, पंच परमेश्वर, सेवा सदन, निर्मला, गबन), औद्योगीकरण से उत्पन्न समस्या, व्यापक जातीय जीवन के प्रवाह तथा प्रेमाश्रम, कायाकल्प एवं रंगभूमि के ढीले-लचीले शिल्प और 'समानान्तर शैली' (रेल की पटरियों जैसी नहीं, नदी जैसी) से होते हुए 'गोदान' और 'क़फ़न' तक आते हैं जिसमें 'सत्य आरोपित न रहकर घटित हो गया है। वह अपने आदर्श से नहीं, स्वरूप से संवेद्य है। पात्रों ने भी गुणों का सापेक्ष आधार छोड़ दिया है और वे आम आदमी की नैसर्गिक साधारणता से पाठकों की विश्वासपूर्ण सहानुभूति की अमित मैत्री पा चुके हैं।' वनतुलसी की यह गंध प्रेमचंद की आधारभूत विश्वजनीनता है और प्रेमचंद की विकास-यात्रा में होनेवाले स्वप्न-भंग और फलस्वरूप गांधीवाद से हटकर यथार्थवाद, दो टूक कहें तो मार्क्सवाद के खेमे में आने की बहुप्रचारित बात निरर्थक सिद्ध कर देती है कि—

'आ गये जिन्दगी के नए मोड़ पर,
मौत के रास्ते से टहलते हुए।'

उनकी कहानियों में आदर्श और यथार्थ का ऐसा अनुपात है कि उन्हें सोद्देश्य तथा आदर्शोन्मुख यथार्थवादी और उलटकर कहें तो यथार्थोन्मुख आदर्शवादी तक तो कहा जा सकता है किन्तु मार्क्सवादी आन्दोलक कहना अतिशयता को आमंत्रित करना होगा

इनकी कहानियाँ मुख्यत: तीन प्रकार की हैं— चरित्र प्रधान कहानियाँ जैसे 'बूढ़ी काकी, सारंध्रा, मुक्ति मार्ग, अग्नि समाधि, नमक का दारोगा, पंच परमेश्वर' आदि, निष्ठा की कहानियाँ जैसे 'बड़े घर की बेटी' आदि, मनोवैज्ञानिक ज्वार-भाटे की कहानियाँ जैसे 'नशा' और इन सबमें न अंटनेवाली, जीवन में मरण लपेट चलनेवाली शोषणातीत कहानी जैसे 'कफ़न'। ये कहानियाँ जीवन के यथार्थ को रखती हैं पर साथ ही जीवन के प्रति एक उदार दृष्टि भी रखने को उत्प्रेरित करती हैं।

'मेरी पहली रचना' में प्रेमचंद ने लिखा है कि करीब तेरह साल की उम्र तक हिन्दी बिलकुल नहीं जानता था और उर्दू उपन्यास पढ़ने का उन्माद सा था। प्रिय उपन्यासकार थे मौलाना शरर, पं. रतननाथ सरशार, मिर्जा रूसवा और सका मौलवी मुहम्मद अली।

पर प्रेमचंद के राष्ट्रीय मन-मिजाज में उर्दू की अति अलंकृत, कवित्व और मुहावरेदानी के अतिरेक से भाषा को मुक्त होकर समसामयिक होना था— 'कौम की जबान वह है जिसे कौम

समझे, जिसमें कौम की आस्था है, जिसमें कौम के जज़बात हों।' इसके लिए उन्होंने हिन्दी सीखी और उसे परवान चढ़ाया और ऐसे उपन्यास लिखे जिन्होंने सिंहासनारूढ़ महाकाव्यों को अपदस्थ कर दिया। भारत की सभी भाषाओं में उनका अनुवाद हुआ।

गार्डन राडरमल ने, जो अपने समय में प्रकाशित दो अंग्रेजी अनुवादों से असंतुष्ट थे, यूनेस्को के लिए 'गोदान' का अनुवाद 'द गिफ्ट ऑफ काउ' नाम से किया। रूसी अनुवाद प्रो. एदर्गनी चेलीशेव का कहना था कि रूसी भाषा में हिन्दुस्तान की तरह गाय पवित्र नहीं है, वह भारतीय गधे की तरह बुद्धूपन और मूर्खता का प्रतीक है। अनुवाद में दान होने पर भी प्रसंग हास्य का ही रहता है, गंभीरता या करुणा का नहीं।'

इसलिए अपनी भाषा का होना आवश्यक और अनिवार्य है। वैसे गोर्की (रूस) लुशुन (चीन) जिग्मोंद मोरिन्ज (हंगरी) आदि के साथ प्रेमचंद का अध्ययन होता रहा है बल्कि गाल्सवर्दी, डिकेन्स और हार्डी आदि के साथ भी, हालाँकि गाल्सवर्दी का पशु-प्रेम घोड़े के साथ है और प्रेमचंद का बैल के साथ, यद्यपि पीड़ित प्रतिनिधि दोनों ही हैं। इसी प्रकार डिकेन्स शहर और प्रेमचंद गाँव की गंध लिए हैं गोकि संवेदनशील दोनों हैं। हार्डी में गाँव तो है पर उस पर करुणामय निराशा छाई है, प्रेमचंद में आशा-निराशा की धूपछाँह।

गार्डन राडरमल की मान्यता है कि प्रेमचंद में 'अस्तित्ववादी एलियनेशन' के बीज हैं। यह दर्शन भारतीय नागार्जुन की 'पृथकात्मकता' के निकट है। प्रो. बॉव स्वान के अनुसार गाल्सवर्दी की तरह प्रेमचंद वर्ग-संघर्ष में नहीं बल्कि तीसरे मार्ग में विश्वास करते थे। गांधीजी के पंच फैसले में शायद प्रेमचंद की आस्था थी— ऐसा कई कहानियों से लगता है। पर अन्तिम दिनों में मानने लगे थे कि अच्छी से अच्छी चीज भी पूँजीवादी व्यवस्था में भ्रष्ट हो जाती है। प्रेमचंद समाजवादी थे, इस बात में मुझे सन्देह है। मार्टिन कहते हैं कि प्रेमचंद क्रांतिकारी लेखक थे तो उनकी नायिकाएँ, सारी नारियाँ इतनी भाग्यवादी क्यों है? कोई विद्रोहिणी स्त्री उनके साहित्य में क्यों नहीं?

प्रेमचंद को रचनात्मक दृष्टि विचारों के क्रम में ही मिली। जैसे-जैसे सामंतवादी समाज के अन्तर्विरोध स्पष्ट हुए, शोषण की पहचान साफ हुई, वैसे-वैसे उनकी रचनाओं का कलात्मक संगठन बिखरता गया। साधारण का चित्रण करने के लिए प्रेमचंद ने जो कला विकसित की वह उनकी तमाम उम्र के लम्बे संघर्ष का परिणाम है।

❑

कथा-समय

(कथा समय : दो)



विजय

सुरक्षा

'कथा-समय' द्वारा समकालीन कहानी की सर्जनात्मक बहुलता और उत्कृष्टता को एक मंच पर प्रस्तुत करने का प्रयास किया जा रहा है। सबसे पहले हिन्दी कथा की वरिष्ठतम पीढ़ी आमंत्रित की गई थी। शामिल कथाकारों में थे— निर्मल वर्मा, भीष्म साहनी, अमृत राय, रामकुमार, विजयदान देथा, शिवप्रसाद सिंह, अमरकांत, कृष्णा सोबती और कमलेश्वर। प्रसन्नता है कि पाठकों को यह स्तंभ बहुत प्रिय लगा।

'कथा समय' के दूसरे दौर के कथाकारों से भी उनकी नवीन कहानी के साथ-साथ कुछ प्रश्नों के माध्यम से वक्तव्य देने का आग्रह किया गया है ताकि हिंदी कथा की समकालीन सर्जनात्मकता के बारे में उनके दृष्टिकोण सामने आ सकें। प्रत्येक कथाकार पर किसी प्रखर लेखक की छोटी लेकिन गहरी टिप्पणी पहले की भांति ही दी जा रही है। दूसरे दौर में आप पढ़ चुके हैं शेखर जोशी, गिरिराज किशोर, गोविंद मिश्र, शशिप्रभा शास्त्री, चंद्रकांता, वल्लभ सिद्धार्थ, राजी सेठ, हृदयेश, चित्रा मुद्गल , ममता कालिया, नासिरा शर्मा, मालती जोशी, कामता नाथ, मेहरुन्निसा परवेज़, जगदम्बा प्रसाद दीक्षित और मृदुला गर्ग की कहानी। यहां प्रस्तुत हैं विजय। समीक्षात्मक टिप्पणी दे रहे हैं एन. सिंह। -संपादक

वसंत वन और मुरका नदी के बीच जंगल विरल है। हिरन, बारहसिंघा, खरगोश, बंदर और पक्षियों की आबादी है। नदी पार है सघन जंगल, हिंसक पशु। महकमा जंगलात को उधर का खास ख्याल रखना पड़ता है। इस पार के गाँव वाले जाते हैं उधर जब-तब अंधेरे में लकड़ी चुराने। अंधेरी रात में इस पार से भाँप लेते हैं बाघ की उपस्थिति। इस पार बना है विशाल गेस्ट हाउस और फूल-फल का रंगीन बागीचा... वसंत वन कहते हैं इसे।

वसंत वन की आरक्षित सीमा से दीवार पर सरकती काली काया विरल जंगल से नदी की ओर भाग रही है। चंद झोपड़ों से निकले लोगों ने पदचापें सुन ली थीं और पीछे दौड़ पड़े थे। काली देह पर काली बनियान मगर घुटनों तक उठी धोती का मटमैलापन आँखों ने पकड़, दौड़ना शुरू कर दिया था। जंगल की सीमा पर नदी की आवाज सुनाई देने लगी थी। पेड़ों पर कुछ बंदर चिकचिकाए थे। ...काली काया को वैसी ही परछाईयों ने घेर कर पूछा— 'क्यों भागता है? उधर बाघ का आना होना है।'

'वो मर गई। और आदमी को हम मार दिया।'

यह तो कहानी के अंत की बात है। शुरू से नहीं कही जाएगी तो कहानी की तस्वीर साफ नहीं होगी... क्यों भाग रही थी काली काया? क्या कानून से डर कर? ... कानून से बचकर?

मधु अलवारिया जब से मंत्री बने हैं महसूस करते हैं कि बहुत कुछ मिला है उन्हें ताकत और सम्पत्ति के रूप में मगर चैन गँवा बैठे हैं। अधिवेशन क्या चलता है कि विधान सभा में विरोधी दल चीख-चीख कर भ्रष्टाचार और तानाशाही के आक्षेप लगाता रहता है। ... यह गलत हुआ है, मंत्री ने घपला किया है, पुलिस ने जुल्म किया और जालिमों को बचाया है।... सब हरामी हैं साले...। अलवारिया जी की आत्मा गाली देती है उन्हें। एक बार तो उन्होंने निश्चय किया था कि मुख्यमंत्री से बात करके रहेंगे... दो इनको भी दस प्रतिशत और इनके मुँह बंद रखो। मगर फिर कहा नहीं था क्योंकि विरोधियों को पछाड़ने की योजना बना रहे थे, मुख्यमंत्री जी, जिससे सांप भी मर जाए और लाठी भी न टूटे।

अधिवेशन के उपरान्त छोटे-मोटे दौरे उनकी थकान को सहला देते हैं... डटकर खाते-पीते और ऐश करते हैं अलवारिया जी। पुनः तरोताजा होकर आते हैं। आखिर लाठी के जोर पर दो चुनाव जीते हैं उन्होंने। अपनी बात कटे, सह नहीं सकते हैं पर जब अपनी पार्टी का ही आदमी स्पीकर बनके रोके-टोके तो अवहेलना कर नहीं पाते हैं। ... बड़ा अकेलापन महसूस करते हैं तब अलवारिया जी। किसी सीने से सिर लगा प्यार की धड़कन सुनना चाहते हैं, मगर धड़कन का अभाव बना रहता है।

अन्दर ही अन्दर कुढ़ते हैं अलवारिया जी... वो किसोरी ससुरी! कंजरी है, सऊर नहीं है किसी बात का। और तो और साड़ी बांधना भी नहीं आता है। बचपन में ही दस हजार के लालच में बाप ने भांवर डलवा दी थी। क्या फकत सात फेरों से औरत पत्नी हो जाती है। सोमा जीजी बताती हैं... तेरे लिए कितना पूजा उपवास करती है, तुझे पता है। सात साल से गाँव नहीं गया था तो कैसे गाभिन हो गई सावित्री? वो तो मल्लार ने वक्त पर खबर दे दी। डाक्टरनी लेकर पहुँच गए वो, नहीं तो हरामी को अपनी औलाद बनाकर पालना पड़ता। कैसी चीख रही थी डाक्टरनी को देख... जे तो झांकता नहीं, एक बच्चा हो जाता तो जिन्दगी काट लेती। ... कमीनी कंजरी। छोटे से गाँव में क्या कुछ नहीं दे रखा है.. नौकर, चाकर, गहना, कपड़ा और बड़ा सा टी.व्ही.। बस भागने पर पहरा है। ... पर उसे मर्द नहीं बच्चा चाहिए। ... कहीं पत्रकारों को पता चल जाए तो तूफान खड़ा कर देते... जड़ से उखाड़ देते। ... नारी शोषण, बहु-विवाह और न जाने कितने चार्ज लगा देते। यह जनता भी पूरी गधी है... नारों और आरोपों में बह जाती है। केस स्टडी नहीं करती है।

और शशि प्रभा...। सात फेरे नहीं डाले पर पत्नी का खिताब तो मिला हुआ है फिर भी अविश्वास की बेल ऊपर उठती ही जा रही है। मौका देखते ही कह देती... इतना मेरे एकाउंट में भी डालना पड़ेगा। न डालो तो त्रिया चरित्र दिखाती है। नौकरानी झुनिया पटी है, चुपचाप बता देती है... कहती हैं कि प्यार तो करते हैं पर आदमी का दिमाग बदलने में कितना वक्त लगता है... दूध से मक्खी की तरह निकाल फेंकी जाती है तब औरत। बेटा दिया है सो कतरा नहीं सकते हैं पर नेता, कब पार्टी बदल ले और कब औरत बदल ले, कहा नहीं जा सकता। ऐसे वक्त में पैसा ही तो काम आता है।

सोचते हुए एक मीठी श्वास अन्दर घुल जाती है... चीज है शशिप्रभा। अंधेरे में चाँद सी, उजाले में पारदर्शी। सुबह उठती है तो भी बदन पर सिलवट नहीं। क्या कहते हैं... सुपरडोज है एकदम। मन उससे दूर नहीं हो पाता है। कम्बख्त लम्बा सिन्दूर डालती है मांग में। सभाओं में खूब बोलती है... देश, त्याग, लक्ष्य और फिर अपनी महानता... मैं न हूँ तो मंत्री जी क्या अपने ढेर

सारे काम ढंग से पूरे कर सकते हैं? ... नारी पुरुष एक दूसरे के पूरक होते हैं। .. पूरक! कभी हिंस्र हो जाती है तो महीनों छूने नहीं देती है। ... तब भागते हैं अलवारिया जी दौरे पर।

प्रकाश अन्हेरी का मामला उन्होंने सुलझाया नहीं तो फंस गए थे मुख्यमंत्री जी चक्कर में, लग रहा था कि मुख्यमंत्री पद अन्हेरी को समर्पित करना पड़ेगा। वो तो उन्हें मालूम थी अन्हेरी की रग, दबाई तो दण्डवत लगा गया... 'अलवारिया जी हमारी टोपी और तुम्हारे चरण।' हमने भी भुनाया मौका... बजाज नगर का फ्लैट समेट लिया। अब क्या खाकर पार्टी मेम्बर्स को डिफैक्ट करने की धमकी देगा। वो क्या खूब कवि ने लिखा था... लाठी में गुन बहुत है, सदा राखिए साथ। चहक उठे थे मुख्यमंत्री, अंग्रेजी बोलने लगे थे— 'ग्रेट वर्क डन, अलवारिया। बड़ा झंझट निबटाया है... यू डिजर्व हॉलीडे। इंज्वाय ऐट वसंत वन। स्वर्ग का आनन्द लो वसंत वन में। दो एक बैठक आदिवासी नेताओं से कर आओ कि संभाले रहें अपने तीर और तरकस। थोड़ी भेंट सामग्री यहाँ से लेते जाना... दारू, बर्तन, कपड़े और नोट। जमीन जानवर का लालच दे देना।

'वसंत वन के पार तो घना जंगल है सर। ...सोने की खान है। जोगिन्दर सिंह कह रहा था कि दिलाओ ठेका, दस करोड़ सरकार को और बीस आपको। आदिवासियों को हम संभाल लेंग।'

'अभी नहीं अलवारिया! विश्व सम्मेलन हुआ ट्रापिकल जंगलों पर। भारत के जंगलों की उपयोगिता उभर कर सामने आई है... फल, ईंधन और धन। ...पर्यावरण वाले आजकल भिनभिनाए हुए हैं। कुछ दिनों बाद खामोश हो जाएंगे और जोगिन्दर सिंह भी कीमत बढ़ाएगा।'

'ये बात तो है, पहले हर जगह फलदार वृक्ष लगे रहते थे। बन्दर और आदमी दोनों का पेट भर जाता था मौसमी फलों से। अंग्रेजों ने देखा कि जनता परवाह नहीं करती है। ...बस कटवाना शुरू किया शहरों में उन्हें और लगवा दिए अंग्रेजी मीठे नीम और गुलमोहर। शहरों से बन्दर भी गायब और सड़कों पर पत्थर फेंक अभ्यास भी खत्म।'

गंभीर हो गए मुख्यमंत्री, 'कुछ भी कहो अलवारिया, पर अंग्रेज राज करना जानते थे, हुकूमत चलाते थे वे। किसी में हिम्मत नहीं थी कि उंगली उठा सके। एक हम लोग हैं कि लाखों फूंक कर विधान सभा में पहुँचते हैं, चटनी भर चाट लिया तो गली का कुत्ता भी भौंकने लगता है। अंग्रेज जहाजों पर सोना भरकर ले गए पर नेहरू से अटलबिहारी वाजपेयी तक कहते हैं... अनुशासित कौम है अंग्रेज।'

'सर, भारत में अंग्रेज सरकार चलाते थे, विरोधी दल नहीं होता था। यहाँ तो सांस ली नहीं कि कोई छींक उठता है... इसने सांस में ज्यादा आक्सीजन भर ली है। पर गलती अंग्रेजों ने भी की, उनके अपने देश के विरोधी दल ने ही हिन्दुस्तान में आजादी की आग लगा दी।'

'कुछ भी कहो अलवारिया पर ग्रेट कौम है अंग्रेज। चरित्र है उनमें इसलिए सैकड़ों साल दुनिया पर राज किया उन्होंने।'

कुछ देर अतीत में खो गए थे मुख्यमंत्री जी... ऊनी वर्दी और कन्टोप लगाए बंकिघम पैलेस के बाहर खड़े सिपाही, गोरी मेमों की कातिलाना मुस्कराहटें और स्पर्श... धूल रहित वातावरण और शराब। दो माह पहले ही तो गए थे, स्विटजरलैंड भी घूम आए। भविष्य का इंतजाम हो गया और बेटी की शादी की धूमधाम का बन्दोबस्त भी। धस्माना आदमी ग्रेट है, एडवांस में वायदा पूरा कर डाला। प्रदेश में तीन बड़े ह्वाइट सीमेंट के कारखाने लगाकर अहसान ही किया है उसने देश पर। पर लोग हैं कि बकते रहते हैं।

ध्यान मुद्रा टूटती है तो मुख्यमंत्री कहते हैं... 'ग्रेट वर्क डन बाई यू अलवारिया। ... पहाड़

सरका दिया। कभी प्रधानमंत्री बना तो विदेश मंत्री होगे तुम...। ऐसी शतरंज बिछाना कि अमरीका और रूस जी हुजूरी करें।'

सीना फूल गया अलवारिया जी का, सपना देख गए कि कृष्णमेनन की तरह बन्द गले का कोट पहने दुनिया भर के हवाई अड्डों पर उतर रहे हैं और शाम की पार्टियों में गोरी औरतें चुम्बन ले रही हैं। क्रेमलिन, ह्वाइट हाउस और दूसरे बड़े-बड़े हाल्स में उनके भाषणों पर लगातार तालियां बज रही हैं। ... गार्ड ऑफ हॉनर ले रहे हैं।

घर पर अपनी तारीफ सुनाए बिना न रहे सके अलवारिया जी। चहक उठी शशिप्रभा, मैं भी चलूँगी, यहाँ तुम्हारे राजनीतिक कौवों की काँव-काँव से कान भर गए हैं। वहाँ कोयल, मैना और मोर की बोली सुनने को मिलेगी। सुना है, गेस्ट हाउस की क्यारियों में काला गुलाब भी खूब खिलता है.. मैंने आज तक नहीं देख काला गुलाब।'

अलवरिया जी नए सपने में डूबे हुए थे, झिड़क दिया शशिप्रभा को— 'काले गुलाब हैं तो काले जंगली भी बहुत हैं। गोरी औरत उनके बीच असुरक्षित हो जाती है।'

त्योरियां चढ़ गई शशिप्रभा की— 'फिर मंत्री किस काम के अगर अपनी पत्नी को भी...।'

अजीब आसुरी घंटिया दोनों के कान में बज गई... अलवारिया जी के आगे गाँव में नजरबंद किशोरी का रिरियाता चेहरा सामने आ गया... और कुछ नहीं, बस एक बच्चा। उलझ गए किशोरी के मनोविज्ञान को लेकर... आदमी तो औरत के लिए तरसता है, क्या किशोरी अपनी तलब का इजहार बच्चे के नाम पर करती है?

शशिप्रभा को लगा कि वह सजी-सजाई गुड़िया है जिसे उसका आका महफिलों में ले जाकर दूसरों को चिढ़ाता है जिनके साथ बासी शक्लों की पत्नियाँ होती हैं। अनगिनत उपहार अलवारिया उसे देता है लेकिन हक की जुर्रत से वह महरूम है।... गले में कुछ फंस सा जाता है जैसे कि शब्द पेट की तरफ तैरने लगे हों। आत्मा ने धिक्कारा— एक बदनसीब औरत के हक पर पहरा लगवाकर तुमने सिंहासन छीना है तो हक के कांटों से क्यों कतराती हो? अजीब सी यातना सात फेरों से विहीन होने की चिकोटी काटती है।

अलवारिया जी मंथन को झटक सपने में डूब जाते हैं... वसंत वन। पहले भी एक बार गए थे, खूब बड़ा और हरियाली से ढका गेस्ट हाउस है। नीचे हाल और चारों तरफ कमरे ही कमरे। ऊपर दो वी.आई.पी. सूट। पिछली बार तो सिर्फ एम एल ए थे, नीचे के कमरे में रुकना पड़ा था, इस बार तो वी.आई.पी. सूट मिलेगा। ...रश्मि पहुँच ही जाएगी। ... शायद कोई नया बन्दोबस्त पी.एस. कर दे... बड़ी पुख्ता देखभाल करता है रामदरस। ... कलक्टर और कमिश्नरों को नचाते देखा है।

रामदरस ने इंटरकाम पर बताया— 'सर, मुर्तजा हुसैन को बता दिया है प्रोग्राम।'

'ठीक है', कहकर अलवारिया सिगरेट सुलगा लेते हैं। मुर्तजा हुसैन का चेहरा आँखों के सामने आ जाता है.. आर्म्स डीलर है। सरकार से दो ट्वैल्व बोर बन्दूक बनाने का मैन्यूफैक्चरिंग लाइसेंस ले रखा है। मगर बनाता दो हजार है। आर्मी किसी जाति की हो पर बन्दूकें उनके पास मुर्तजा के कारखाने की होती हैं। शातिर इतना कि वर्कशाप के फ्लोर पर दो से ज्यादा बन्दूकों का सामान दिखाई नहीं देगा। ...हाथ नहीं रख सकता था कोई। फंसा दिया रामदास ने खरीद फरोख्त के वाउचर्स को चेक करा दिया। खरीद हजार गुनी निकली, दौड़ा आया राजधानी और पाँव पकड़ लिए... 'आपका खादिम बन कर रहूँगा।'

अलवारिया जी ने घुड़की दी थी— 'बुरा काम कर रहे हो मुर्तजा। प्रांत में अराजकता फैलाने का दण्ड जानते हो?'

कदमों पर नोटों का बंडल रखते हुए बोला था— 'मर्द बना रहा हूँ बेजुवानों को जनाब।

रात तक गृह सचिव, वित्त सचिव और

सांस्कृतिक विभाग के निदेशक ने ब्रीफ कर नोट्स रामदरस को पकड़ा दिए। उपहारों को एक मिनी बस में रखा दिया गया। पार्टी से मिले नोटों के पैकिट्स ब्रीफ केस में डाल लिए रामदरस ने।

पहला पड़ाव सुबह ग्यारह बजे गाँव ठगना के बाहर पड़ा। मंत्री जी के आगे-पीछे खड़े थे जिला पार्टी अध्यक्ष और सचिव। मंत्री जी ने देखा कि भीड़ काफी थी। आदिवासियों के बीच शहरी मजदूरों की भीड़ भी थी, समझ गए कि कलक्टर का करिश्मा है। आगे स्कूली बच्चे जमीन पर बैठे थे और पीछे मास्टर-मास्टरनियां और ग्राम सेविकाएँ खड़ी थीं। ढोल बज रहा था और बीच-बीच में जिन्दाबाद की आवाजें चूं चूं का मुरब्बा बन कर उभर रही थीं। स्कूल की लड़कियों ने स्वागत में पाहुना गाया। देश, देश-प्रेम, त्याग और खुशहाली का पाँच दशक पुराना भाषण अलवारिया जी अटक-अटक कर पढ़ रहे थे। तभी रामदरस ने कलेक्टर वर्मा को पास बुला कर पूछा— 'अजीब नाम है ठगना।'

'बड़े ठगू लोग हैं यहाँ के, एकदम जाहिल। इनका बस चले तो गाँव कस्बा लूटकर चावल की शराब पीएं और नाचें। बड़ी फैक्ट्री तेजाब की संतकुमार तनेजा ने लगाई तो तूफान उठा दिया.... जमीन और जंगली जानवरों की रोते रहे।'

'फिर।'

'फिर क्या सर! आखिर आई.सी.एस. के जूते पहनकर ही तो हम आई.ए.एस. इस देश में उतरे हैं। बाँट दिया लोगों को ट्रायब और हकों को लेकर। लड़ मरे आपस में, अभी भी सेशन में केस चल रहा है। सर .. जहाँ धर्म, जाति, पंथ, रहन-सहन और खाना अलग-अलग तरह का हो वहां डिवाइड एंड रूल ही बेस्ट तरीका है। संतलाल तनेजा अब यहां सांताक्लाउज बन गया है... पचास ठेके कच्ची शराब के खुलवाए हैं उसने '

'गुड ! शायद गेस्ट हाउस का खर्चा भी तनेजा ही....।'

'यस सर!' फिर कान में फुसफुसाया— 'मुर्तजा हुसैन कल रात वहाँ चुपचाप पहुँच जाएंगे।'

'रात का इंतजाम?'

'तनेजा ने सब इंतजाम कर दिया है। उसकी गाड़ी रात दस बजे तक पहुँच जाएगी।'

एक पुरानी अदावत रामदरस को चटखाती है... 'उसे छोड़ो। उस सामने वाली का इंतजाम करो। ... पता करो कौन है?'

कलेक्टर तहसीलदार से पूछकर आता है... 'ग्राम सेविका सुमना। बगल में खड़ा काला लड़का उसका मंगेतर है, मास्टर है। दोनों ने इस क्षेत्र में बहुत काम किया है पिछले एक साल में। .... कट्टर लोग हैं सर! जाने कब तीर-तलवार निकाल लें।'

'डरा देना कि नहीं मानी तो मंत्री जी जंगल साफ करा देंगे और तब मारे-मारे फिरेंगे सब। बाप से कह देना कि बड़ी जमीन मिलेगी।' एक हिंस्र भावना रामदरस के अन्दर चटखारा लेती है।

तालियों के बाद मंत्री जी कार में आ बैठते हैं। रामदरस कान में फुसफुसाता है, 'वसंत वन में रात चिड़िया बोले... कुहु कुहु कू।

अलवारिया जी अपनी मुस्कान को मुश्किल से सीमित कर पाते हैं। बाहर धूल ही धूल थी और बहुत दूर पहाड़ियों की ऊँट जैसी पीठ ही पीठ दिखाई दे रही थी।

शाम की चाय के बाद गेस्ट हाउस के वसंत वन में पार्टी सदस्यों के साथ बाहर निकलते हैं। सीढ़ियां उतरते ही वन गुनगुनाने लगता है। मोरपंखी के गोल ग्लोब जैसे छटे झाड़ से एक रंग-बिरंगी चिड़िया उड़ कर ऊँचे पूरे अशोक के वृक्ष पर पहुँच चहकती है। जिला पार्टी अध्यक्ष कह रहे थे.... 'जन जाति, मुस्लिम और हरिजनों में पार्टी की लोकप्रियता घट रही है। नए कार्यक्रम बनाने होंगे कि अगले डेढ़वर्ष बाद चुनाव में पार्टी को क्षति न पहुँचे ।'

दो लाल रंग की गौरय्या जैसी चिड़िया पगडंडी पर फुदकने लगती हैं और पीछे झाड़ियों में मोर ने पंख खोल दिए थे। अलवारिया जी की दृष्टि उन्हें पकड़ पाती कि जिला पार्टी सचिव महता ने अपना प्रतिरोध जताया, 'असल में मुर्तजा मियां बदमाश है, वह हमारे लोगों को तो बन्दूके दे ही देता है, हमारे विरोधी जिनके साथ काफी मुसलमान भी हैं उन्हें भी उपकृत करता रहता है।'

तभी कोई आधा किलोमीटर की दूरी पर बाघ दहाड़ा था। मंत्री जी पूछते हैं— 'क्या है?'

हँसतां हैं महता— 'वसंत वन से सटा वन तो घना नहीं है। उसमें आबादी भी है। पर नदी पार सघन जंगल है। वहीं से आता है नदी पर बाघ।... मैं अभी एक दस्ता उधर भिजवाता हूँ। पुलिस ब्लैंक फायर करेगी तो बाघ दूर भाग जाएगा।

रात खाना बहुत लजीज था...। अलवारिया जी के अन्दर लहर उभरी थी तृप्ति की। वसंत वन के बाहर लगे बोर्ड को उन्होंने पढ़ा था... पंछियों को मारना कानूनी अपराध है। अन्दर ही अन्दर मुस्कराए अलवारिया जी... अरे बकरे, मुर्गी, तीतर और बटेर न खाए जाते तो आदमी के रहने के लिए जमीन नहीं बचती। चारों तरफ तख्तियाँ लगीं थीं...शराब पीना मना है मगर कोई शाम को ही स्कॉच खोल दे तो झाग अपने आप मुँह तक पहुँच ही जाता है और हलक उतावला हो जाता है। नशा सिर पर चढ़ने लगता है।

बाघ नदी पर दहाड़ा था।कुलबुलाए अलवारिया जी... 'साले के सामने दो कलछोहें डलवा दो, रात भर खाता-पीता रहेगा, चुप रहेगा।'

रामदरस कल के कार्यक्रमों की तालिका पढ़कर सुनाता है..... 'सुबह जोगिन्दर सिंह के साथ ब्रेक फास्ट मीटिंग, ग्यारह बजे जन-जातीय नेता और मुखियाओं से भेंट अर्पण और बातचीत। शाम चार बजे पार्टी कार्यकर्ताओं के साथ बातचीत। छह बजे वन विभाग के अधिकारियों के साथ मीटिंग। ' रामदरस चुप हो जाता है।

अलवारिया जी पूछते हैं— 'फिर आगे '

'मुर्तजा भाई आ जाएंगे आठ साढ़े आठ। इसलिए और कोई कार्यक्रम नहीं रखा है।'

अलवारिया जी की गर्दन नशे से झुक गई थी। रामदरस जानता है कि एक घंटे बाद वे चैतन्य हो जाएंगे। धीरे से कान में फुसफुसाता है— 'वन की कोयलिया।'

हवा में जन जातीय बस्ती से उभरा गीत तैर रहा था। विवाह के पूर्व गाए जाने वाला गीत...

अंग्रेजी दारू पी है आज सोनेलाल राउतिया ने, ग्राम सेविका सुमना का बाप है राउतिया। खुद ही नहीं पी, पड़ोसियों को भी पिलाई है। जिन्हें नहीं बुलाया वे कुपित हैं। जरूर खोज निकालेंगे... अंग्रेजी का भेद।

ठीक एक घंटे बाद अलवारिया जी उठते हैं और साथ उठता है रामदरस, दो सिपाही और डी.एस.पी. तीनों दूरी बनाए सुरक्षा के लिए तैनात थे। तभी बाहर कार रुकने की आवाज उभरती है। रामदरस के अन्दर लावा खौलता—तो आ गई कुतिया। मंत्री की रखैल क्या बनी कि खुद को मुमताज समझती है।

अलवारिया जी सीढ़ी चढ़ते हैं और रामदरस को नीचे रुके रहने का संकेत करते हैं।तभी धड़धड़ाती रश्मि जी आती हैं और सीढ़ियों की ओर दौड़ती हैं। रामदरस रास्ता रोकता है तो धक्का देकर अपना रोष प्रकट करती है... बदतमीज! रामदरस का खून उन्हें लेकर तीसरी बार खौलता है। रश्मि जी धड़धड़ाती सीढ़ियों पर पहुँच अलवारिया जी को बाहों में लपेट लेती है ....'डार्लिंग।'

अलवारिया जी धकेलते हैं— 'शर्म कर'

मधुर हो जाती है रश्मि जी की आवाज— 'देर हो गई, मेरी गलती नहीं, सवाना के पास कार खराब हो गई। मैं कितना तड़प रही थी, तुम क्या जानो।'

'नीचे जाओ।' तड़कते हैं अलवारिया जी।

'ना, मैं नहीं जाऊँगी, बुलाया क्यों था?'

अपनी बात कहते हुए आँखों में मादकता उतार लेती हैं रश्मि जी, अपना मूल्य जानती हैं। कोई ऐसे ही टी.जी.टी. से अलवारिया जी ने प्रिंसिपल नहीं बनवा दिया था। इस बार तो रूठकर एम.एल.ए. के टिकिट की बात मनवाने की सोचकर आई थी।

'चलो अन्दर चलें', बाँह थाम कहती है रश्मि जी।

रश्मि जी की बाँह मोड़ धकेलते हैं अलवारिया जी। संस्कार जनित गाली रश्मि के मुँह से निकलती है, 'अभी थूक चाटेगा कुत्ते तब भी नहीं आऊँगी '

चीखते हैं अलवारिया जी— 'रामदरस, ले जा नीचे कुतिया को।

रामदरस बाज की तरह ऊपर झपटता है और रश्मि जी को नीचे खींच लाता है। मन ही मन हुंकारता है... साली मुझसे चप्पल साफ कराई थी तूने...

अलवारिया जी मूड ठीक करने के लिए बालकनी में टहलते रहते हैं। एक मुस्कराहट चेहरे पर उभरती है...।

दरवाजे को हल्के से छूते हैं...। अन्दर कविता जाग उठती है... गोरी और इंतजार शीर्षक से। ... दरवाजा धीरे से खोलते हैं, अन्दर गहन अंधकार फैला हुआ था। महसूस हुआ कि सुमना शर्म से सर झुकाए बैठी होगी। फिर लगा कि जंगली जाति के लोग अंधेरे में जीने के आदी होते हैं... चरित्तर करना हर औरत और लड़की की आदत होती है। पारस बन गया सोच... पुलक रही होगी अन्दर मन से। शशिप्रभा क्या कम चरित्तर रचती है।

रश्मि की जोरदार चीख उभरी थी। कमरे के अन्दर पहुँच द्वार भेंड़ते हैं अलवारिया जी। हँसते हैं धीमे से... रश्मि की चीखों से बाघ भी डर कर भाग जाएगा। अन्दर खिड़की खुली हुई थी, पेड़ों की झुरमुट से लय उभरी थी। अलवारिया जी को लगा कि कहीं आतिशबाजी हो रही है... जरूर तहसीलदार ने उनके स्वागत में फुलझड़ियाँ और पटाके बाँटे होंगे।

जंगल में लुप-छिप कर बतिया रहे थे लोग, एक सनसनी वृक्ष और झाड़ियों को छूते हुए चारों ओर व्याप्त हो रही थी...। राउतिया की अंग्रेजी दारू का रहस्य खुल-सा गया था। पिछली बार एक मंत्री आया। चोखारू का छोकरी गायब और निबाड़े का जंगल साफ।... इस बार! ... इस बार! ... हड़बड़ाई थी मास्टर की काली देह। बदन में तेल लगा दौड़ पड़ी थी।

कोई पक्षी फड़फड़ाया। आम पेड़ पर शायद चिड़िया के अंडों के लालच में साँप सरका होगा।

वसंत वन के गेस्ट हाउस में एक रंगीन रात की योजना को आगे बढ़ाने के लिए अलवारिया जी दीवाल टटोलते हुए स्विच ऑन करते हैं।... कमरा रोशनी से पुत जाता है। एक खास अदा से मुड़कर डबल बैड की तरफ देखते हैं... अरे सुमना कहाँ?

जन जातीय नेताओं के लिए लाए गए उपहारों पर फिसलती दृष्टि लुढ़कती हुई कुर्सी पर पड़ती है। घबरा कर दृष्टि छत की ओर भागती है... कन्दील से साड़ी का फन्दा बांध सुमना लटकी हुई थी... जीभ बाहर निकली हुई थी। महसूस हुआ कि सुमना नहीं, सामने किशोरी खड़ी होकर चिढ़ा रही है... ले खा मुर्दे का गोश्त। चूस उसकी बोटियां।

रश्मि बहुत जोर से चीखी थी... थरथरा उठे अलवारिया जी। ... हैवानियत चेहरे पर उतर आई... साली खब्बीस! एक रात में मालामाल कर देता, पर इसे तो सुख काटने दौड़ रहा था...। मरना था तो बाद में मर जाती।

अचानक पेड़ की डाली से चला तीर धच्च की आवाज करता पेट में घुसता है, लड़खड़ा के गिरते हैं। ... पलंग इंतजार में खाली पड़ा रहता है। गिरने पर कहीं चोट नहीं आती क्योंकि कालीन काफी मोटी थी।

बाहर वसंत वन में पत्तों में खरखर आवाज उभरती और बन्द हो जाती है... सिपाही सजग होकर पुनः शिथिल भाव से बैठे रहते हैं...जरूर

कोई बिल्ली पेड़ों पर चढ़ी उतरी होगी।

आसमान में अंधेरी रात की चादर पर सितारे बिखरे हुए थे.... काली काया अपने जैसे सायों से घिरी हुई थी, कोई फुसफुसाता है— 'मास्टर जी '

'हाँ, झूठे कमीने वकील और कानून कई बार फांसी चढ़ाए इससे तो बाघ का पेट भरे ये ही अच्छा है। ... मैंने उसके पेट में भी तीर उतार दिया था।'

छपाक! आवाज उभरती है और साए लौट पड़ते हैं। कोई कहता है— 'ठीक किया, ठीक किया। .. ये राउतिया भी बिक गया।'

फिर सब तेजी से झोपड़ियों में आशंकाओं से भरे बिस्तरों पर लेट जाते हैं।

कोयल की कूक और भंवरों के गुंजन से सवेरा शुरू होता है। नीचे तहखाने में बड़ा जेनरेटर बन्द कर छोटा जेनरेटर चलाकर आपरेटर जम्हाई लेता कुर्सी पर गर्दन निढाल कर आँखें बन्द कर लेता है...हुकुम था, सुबह से पहले आँख न झपके।

बेयरा रामदरस के कमरे का दरवाजा खुलवाता है... 'सर ऊपर के लिए चाय।'

रामदरस कहता है— 'चलो मैं दरवाजा खुलवाता हूँ।

रात रश्मि जी पर किया अत्याचार उसे पुलकाता है। मन ही मन हँसता है, ऊपर भी खूब छीना-झपटी हुई होगी, ऐश है मंत्रियों का। हर बार नया शिकार मिलता है, हमें तो जूठन पर संतोष करना पड़ता है।

रामदरस दरवाजा थपथपा के धक्का देता है... शायद बिस्तर से उठाना पड़ेगा, पर यह क्या? पलंग खाली पड़ा था और मंत्री जी कालीन पर चित्त पड़े थे।

तभी बेयरा चीखता है... 'सर लड़की तो छत से लटकी है', 'कहने के साथ वापस दौड़ता है और सीढ़ियों पर लुढ़क पड़ता है। झनझनाती ट्रे नीचे गिरती है। डी.एस.पी. और सिपाही दौड़ते हैं। ऊपर रामदरस चीख रहा था— 'हरामियो यही है तुम्हारी सुरक्षा? जब मंत्री सुरक्षित नहीं तो और कौन सुरक्षित रह सकता है?'

बाहर वसंत वन में कोयल कुहक रही थी, मोर नाच रहे थे, बन्दर उछल रहे थे और गिलहरियां पेड़ों से ऊपर-नीचे आ और जा रही थीं। ❑

वक्तव्य

हिन्दी कहानी : आज

विजय

कहानी। पचास वर्ष के सफर में जटिलता की वादी और नवमूल्यों के दौर से गुजरी है।

प्रेमचंद का युग स्वतंत्रता संग्राम का युग था। मूल्यों की परख का दौर था। आदर्श, बलिदान और उत्थान के सपने थे। उसके बाद की पीढ़ी ने मोह भंग के अनुभवों से बहुत कुछ सीखा। मात्र साहित्यकार न रहकर अपने वर्चस्व को कवच और बर्छियों से सजाया जिससे अतीत को निर्मूल्य और भविष्य को इशारों पर चलाया जा सके। जहाँ प्रेमचंद काल में वस्तु का फैलाव बहुत सीमित था, उनके बाद की पीढ़ी ने विविधा के नए आयामों को मनोवैज्ञानिक सर्जना प्रदान की, वस्तु विधा का क्षेत्र और अभिव्यक्ति के नए आयाम विकसित हुए। मगर प्रभुत्व की संरचना में, परिणाम स्वरूप साहित्यकारों में अलगाववाद का जन्म हुआ। कहानी का वर्गीकरण शुरू हो गया। मगर सच यह है कि सैक्यूलरिज़्म को लेकर लेखकों ने प्रतिपक्ष की भूमिका निरंतर निभाई है। कथा शैली में तो निरंतर परिवर्तन और विकास होता ही रहा है। जैनेन्द्र जी ने कथा शिल्प को मनोवैज्ञानिक आयाम दिए तो आज की हिन्दी कथा ने बोली के आधार पर उभरे आंचलिकता के संदर्भों को ही समाप्त कर दिया। मराठी, बांग्ला, और दक्षिण की भाषाओं के अनेक शब्द हिन्दी कहानी की भाषा में पूरी तरह खप गए हैं।

कथा साहित्य की दूसरी पीढ़ी बहुत सतर्क और चालाक रही है। अतीत के शिखरों पर प्रहार कर उन्हें ध्वसित करने की कोशिश भी इसने खूब की थी। इस पीढ़ी ने अपने वर्चस्व को इतना अधिक टेढ़ा बनाना चाहा कि भविष्य भी इनसे आतंकित रहे। आंदोलन के जरिए साहित्य के सरोकारों के विकास की जगह, आलोचकों की बिरादरी को इतना कमजोर किया गया कि निष्पक्ष पारखी आँख आज दुर्लभ हो रही है। इस सारी चालाकी के बावजूद कथा-साहित्य में उनकी भागीदारी सराहनीय रही है। कहानी को रूढ़ि और लीक की सीमाओं से बाहर निकाल कर यही पीढ़ी लाई है। सारिका, धर्मयुग, ज्ञानोदय और कल्पना से लेकर अनेक पत्रिकाओं में उनके दस्तावेज मौजूद हैं। मगर वाद, विचार और शक्ति के आधार पर जो गुट बने हैं इससे युवा पीढ़ी भ्रम के चक्रव्यूह में फंस गई है। इसीलिए इनका अनुसरण या बगावत कोई साकार स्वरूप अभी तक अख्तियार नहीं कर सके हैं। .... दलित साहित्य के रूप में एक चुनौती जरूर बहिष्कार के रूप में सामने आई है।

विगत तीस वर्षों में व्यक्ति, समाज और रचनाकार परेशान रहा है। राजनीति के द्वारा ही परिवर्तन की संभावना उनकी लाचारी बन गई है। टी.व्ही. और बड़े पर्दे पर एंग्री यंग मैन रोज बुराई के

राक्षस को खत्म करके चला जाता है किन्तु जिन्दगी से शोषण, असहिष्णुता, अभाव, अपमान और पीड़ा तनिक भी कम नहीं हो पा रहे हैं। मोहभंग होगा तो कहानी के साथ कहानीकार भी दिखाई देने लगेंगे। यह बात पूरी तरह अन्य भाषाओं के प्रति भी सही है। उर्दू में मन्टो और वेदी जैसी, बांग्ला में शरत और रवीन्द्र जैसी एवं मराठी में वि.स. खाण्डेकर जैसी पहचान कहाँ है? अंग्रेजी साहित्य तो सैक्स और बाजार ढो रहा है और रूसी साहित्य पूरी तरह गुमशुदा है। सरकारी थोक खरीद में दस रुपए की किताब सौ रुपए में जाकर प्रकाशक को इतना लाभ दिलाती है कि अब प्रकाशक पाठक नहीं खोजता।

जीवन जब महत्वाकांक्षा की दौड़ बन जाता है तब शार्टकट की ईज़ाद कुछ लोगों को वहीं रोक देती है, कुछ दौड़ से बाहर आ जाते हैं मगर कुछ व्यक्ति ऐसे भी होते हैं कि परिणाम की चिंता किए बिना दौड़ते रहते हैं। ऐसे वातावरण में अनेक रचनाकारों की स्फूर्ति को बाहरी दबाव क्षति पहुँचाते हैं। जहाँ तक मेरा अनुभव है... मैंने देखा है कि हिन्दी क्षेत्रों में उस्ताद पकड़ कर लक्ष्य तक शीघ्र पहुँचने की बेचैनी रचनाकारों में बीमारी की हद तक मौजूद है। अध्ययन, चिंतन, भ्रमण, कल्पना और इन्टियूशन कुछ कम ही दिखाई देते हैं। वैश्विक विराट के मामले में इज़्म उनका मापदण्ड है और जोड़-तोड़ द्वारा सफलता तक पहुँचना ध्येय बन गया है। लेकिन कुछ हैं ऐसे भी जो कबीर की तरह निर्भय, निर्मोह और स्पष्ट हैं।

जीवन जब जघन्यताओं का साक्षी हो ओर अस्तित्व प्रतिक्षण खतरे की घंटी सुनता हो, वहाँ फूलों की रंगत पर मुग्ध होने का हौसला किसमें है।

विचारधारा से वशीभूत रचना के पीछे रचनाकार का मसीहाई भ्रम होता है। रचना अनुभूति और नैसर्गिकता के बिना जीवंत नहीं हो सकती। कहानी तो कहानीकार का समानान्तर जीवन होती है जिसके पात्रों के दर्द, अपमान और हर्ष को रचनाकार अपने अन्दर झेलता और जीता है। प्रेमचंद साहित्य में 'कफ़न' का वजन इसीलिए सबसे ज्यादा है। विचारधारा के अंतर्गत यशपाल जी से ज्यादा किसी ने नहीं लिखा किन्तु उनकी अमर रचनाओं में 'फूलों का कुर्ता' और 'झूठा सच' ही प्रमुख हैं।

आंदोलनों के उद्देश्य से अलग आते रहे हैं परिणाम। साहित्यिक आंदोलनों के सहयोगियों की अंदरूनी मंशा ... आज साहित्य को कहाँ पहुँचा गई है, आप देख ही रहे हैं। जब रचनाकार का सरोकार सीमित हो गया है तो आन्दोलनों का प्रभाव कैसे व्यापक होता? आज तो आन्दोलनों से कहीं ऊपर हो गया है 'वाद'। वाद से हुए हैं विखण्डन। विखण्डन साहित्य की सेहत को खराब करते हैं।

अब अंग्रेजी का मैकाले स्वस्थ और जवान हो गया है। रोजी-रोटी और आदान-प्रदान की भाषा स्थाई रूप से अंग्रेजी हो गई है इसलिए जुड़ाव का प्रभाव भी अंग्रेजी से ज्यादा है। भारतीय भाषाएँ तो एक दूसरे के लिए सौतन हो गई हैं उनमें समन्वय या जुड़ाव कम ही नज़र आता है। हाँ, हिन्दी उर्दू बावजूद कटुताओं के दो जिस्म और एक जान होती जा रही हैं। हिन्दी को अगर भारतीय भाषाओं की धुरी बनने दी जाती तो समन्वय सक्षम होता और विखण्डन के कगार पर देश और साहित्य नहीं पहुँचते।

हिन्दी कहानियों का अन्य भाषाओं में अनुवाद बहुत कम होता है। ज्ञानपीठ से लेकर अन्य बड़ी हिन्दी भाषा की संस्थाएं जहाँ पुरस्कार में भेदभाव नहीं करती हैं और अन्य भाषाओं के लेखक पुरस्कार पाते रहते हैं वहीं अहिन्दी संस्थाएँ केवल अपनी भाषा के रचनाकारों को पुरस्कृत करती

हैं। इसलिए अहिन्दी भाषी रचनाकार दोहरी प्रसिद्धि पाते रहते हैं। प्रेमचंद से लेकर आज तक शायद ही किसी हिन्दी लेखक को अन्य भाषा की बड़ी संस्था से सम्मान मिला हो। राष्ट्रीय अकादेमी भाषावार पुरस्कार देती है जबकि हिन्दी लेखकों की तादाद अन्य भाषाओं के कुल लेखकों के बराबर होगी। इस तथ्य को नजरअंदाज किया जा रहा है। राष्ट्रीय साहित्य अकादेमी को मेरे ख्याल में प्रांत और जनसंख्या के अनुपात में पुरस्कार प्रदान करने चाहिए।

तादाद बढ़ी है तो मात्र निम्नस्तरीय रचनाओं की ही नहीं बढ़ी है। असल में परखने वाली आँख ही गायब हो गई है। बड़े आलोचकों की सराहना फतवा जैसा स्वरूप ले चुकी है जो खास व्यक्ति और वर्ग के लिए निश्चित रहता है। शेष रचनाकार नज़रअंदाज होते जा रहे हैं। कुछ आलोचक सही मूल्यांकन की जुस्तजू में लेखकों और बड़े आलोचकों की नज़र में छोटे ही रह जाते हैं। प्रेमचंद के साहित्य का मूल्यांकन हो सका। छायावादी कवियों पर भी आलोचना प्रभावी रही। अगर उस समय जीवट के आलोचक नहीं होते तो उस काल के रचनाकार भी अज्ञात ऑरबिट में भटकते रहते।

अनुभव रचना में परिपक्वता और विश्वसनीयता लाता है। तकनीक और भाषा सम्प्रेषण को प्राणवान करते हैं। फैशन समाज के आयाम की पहचान कराती है। केवल एक ही उत्कृष्टता रचना को पूरी तरह जीवंत नहीं बना सकती है। कहानी की मूल शर्त है कहानीपन... कथा और रस।

मध्यवर्ग साहित्य का बड़ा पाठक होता था। आजादी के प्रारम्भिक वर्ष इसने अपनी भाषा से पूर्ण लगाव से काटे किन्तु अपनी भाषा ही उसे निर्दिष्ट तक पहुँचाने में असफल सिद्ध हो गई ओर मध्यवर्ग उस भाषा के लिए तैयार नहीं है जो उसे रोटी रोजी न दे सके। हिन्दी भाषा में बाल और किशोर साहित्य की कमी दूसरा बड़ा कारण है... पाठकों का अभाव पैदा करने का। सरकारी थोक खरीद ने प्रकाशकों का काम सरल कर दिया है अब बिक्री के लिए उन्हें पाठक की दरकार नहीं है।

ये घोषणाएँ वैसी हैं जैसी दुनिया के नष्ट होने को लेकर होती रही हैं...।

आदर्श जब स्लोगन रूपी भूत बनकर रचना में छा जाता है तो रचना इश्तहारी स्तर पर आ जाती है। यथार्थ का अर्थ है विश्वसनीयता... किन्तु यथार्थ रचना की सीमा नहीं है। जो कल्पना यथार्थ की तरह विश्वसनीय लगे वही रचनाकार की उपलब्धि है।

वस्तु के बिना रचना लफ्फाजी के दायरे में आ जाती है। शिल्प संप्रेषण की सीढ़ी है। उनमें झगड़ा कहाँ?

आलोचक न होते तो हसरत बनी रहती। असंतोष का प्रश्न ही नहीं उठता। आलोचक का रूप चित्रगुप्त जैसा होता है जो रचना के गुण और दोष पाठक रूपी धर्मराज के सामने लाता है। आज भी पारखी व्यक्तित्वों की कमी नहीं है जो रचना और रचनाकारों को पाठकों की अदालत में सही रूप में पेश कर सकते हैं। दुख इस बात का है कि चन्द नामी आलोचक खुदा बन गए हैं। श्रुति, वाद, गुट और शक्ति के आधार पर उछाला गिराया जाता साहित्य मूल्यांकन की सरहद से बाहर ही रह गया। दावतें, पर्सनल ऐप्रोचेज... फैसले अपने हक में कराने की कितनी तो विधियाँ इज़ाद हो गई हैं।

❑

विजय

बदलाव के अंतर्द्वन्द्वों से जूझता कथाकार

एन. सिंह

विजय किसी वाद का अलंबरदार नहीं हैं, और न ही पिछलग्गू। वे एक ऐसे कथाकार हैं, जिन्होंने कथा-रस को ऐसा सहेजा है, अनुभव की चासनी में पगाकर परोसा है, जो आम पाठक को अपने में बांधने और देर तक बाँधे रखने में सक्षम है। उनका अनुभव जितना विराट है, शिल्प भी उतना ही प्रौढ़ है। जिसके कारण उनकी कथाभूमि निरंतर बदलती रहती है। लेकिन इस बदलाव में उनका मंतव्य कभी नहीं बदला। उनके सम्पूर्ण लेखन में हमारे समय के अनेक प्रश्नों तथा अनेक दुश्चिंताओं का विवेचन हुआ है। 'हथेलियों का मरुस्थल' से शुरू हुआ यह सफरनामा—जंगल बबूल का, बौसुरीली तथा अन्य कहानियां, नीलकंठ चुप है, गंगा और डेल्टा, अभिमन्यु की तलाश और 'किले' से होता हुआ 'लौटेगा अभिमन्यु' तक पहुँच गया है।

दरअसल अपने सम्पूर्ण कथा-सृजन में विजय साधारण-असाधारण पात्रों के बीच से कुछ उदात्त तत्त्वों की खोज करते हुए दिखाई देते हैं। वे मूलतः लघुता में उच्चता की तलाश के कथाकार हैं। उनकी कहानियाँ इसका जीता-जागता प्रमाण हैं। भारतीय साहित्य में यथार्थ के नाम पर आज जो चित्रण हो रहा है उससे एक ऐसी भयावह तस्वीर उभरती है कि लगता है जैसे पूरा भारतीय समाज भ्रष्ट, क्रूर और स्वार्थी हो गया है। यह सिक्के का एक पहलू है। विजय ने अपनी कहानियों के माध्यम से हमें सिक्के के दूसरे पहलू से भी अवगत कराया है। उन्होंने निःस्वार्थ सेवा में, उदात्त जीवन मूल्यों के, वे द्वीप भी खोज निकाले हैं जो भ्रष्टाचार के इस महासमुद्र में अपना मस्तक ऊँचा किए खड़े हैं और किसी भी व्यक्ति और समाज के लिए प्रेरणा के स्रोत हो सकते हैं। विजय की कहानियों के अनेक ऐसे पात्र हैं, जो परिस्थितियों से जूझते हुए पाठक के मन पर अपनी अमिट छाप छोड़ते हैं। गारूदेवी हों या डॉ. अस्थानी— वे निरंतर संघर्ष करते हैं और उम्मीद नहीं छोड़ते हैं।

विजय बौद्धिक सरोकारों से लैस कथाकार हैं, अपने उपन्यासों और कहानियों में भी वे पाठकों की बौद्धिक जिज्ञासाओं को शांत करते हुए चलते हैं। इस बौद्धिकता के कारण कहीं-कहीं पर कथा-रस बाधित भी होता है। कथा साहित्य में विजय एक ऐसे कथाकार हैं जिन्होंने जितना अधिक लिखा, उतनी उनकी चर्चा नहीं हुई, लेकिन कालजयी रचनाकार वही है, जो खामोशी से सृजनरत रहे हैं। तभी तो उर्दू के प्रख्यात साहित्यकार जोगेन्द्र पाल ने उनकी कथा संभावनाओं को रेखांकित करते हुए लिखा है कि— 'भारतीय साहित्य में विजय जैसे कलाकारों का आगमन कई लिहाज से एक बड़ा शुभ लक्षण है। उनकी कला का एक निहायत पसंदीदा पहलू यह है कि वे अपने आपको कहानी पर आरोपित नहीं करके कहानी में कोई बाधा पैदा नहीं करते और यों महसूस होता है कि कहानी अपने पात्रों की ही विचार श्रृंखला में बट-बुनकर अपने उतार में बह रही है और इस कदर खुदरौ हो ली है मानो लेखक इसे लिखने की बजाय पढ़ रहा है। मेरे खयाल से किसी कहानी की विशालतर संभावनाएँ इसी खूबी में सिमटी होती है कि वह किसी बाहरी अप्रासंगिक दबाव से आजाद रहे और उसका सारा तनाव अनिवार्यतः उसी के स्रोत से फूट रहा हो। विजय की कहानियाँ अपनी इसी विशेषता के कारण न केवल पठनीय हैं बल्कि पाठक को भी सृजनात्मक सतह पर सम्मिलित कर लेती हैं।'

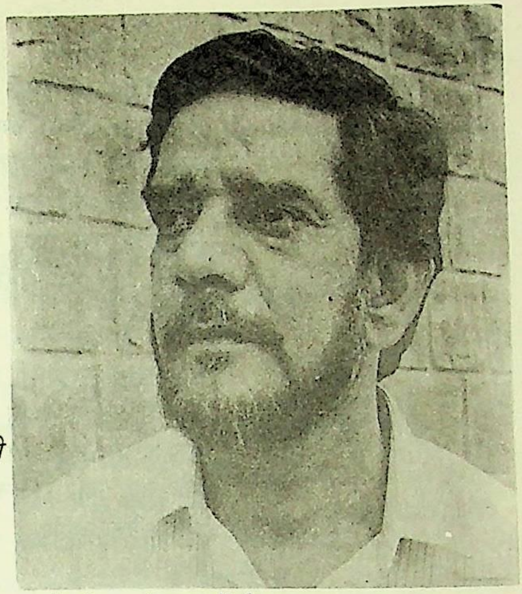
निश्चय ही विजय एक गंभीर कथाकार हैं, जो अपने शब्दों में बदलाव का एक स्वप्न अपने पाठकों को सौंपते हैं। उनकी कहानियों का फलक विशाल है। उनकी कहानियाँ हमें अंधेरी गलियों में भटकाती नहीं है, हमारे हाथों में एक मशाल भी थमाती है जिसकी रोशनी में हम अपना पथ खोज लेते हैं और अपनी मंजिल तक पहुँच सकते हैं।

कवि और कविता

हिंदी की समकालीन कविता अपनी शक्ति, सृजनशीलता, मन और विचार भूमियों की विविध पड़तालों की दृष्टि से भारतीय कविता में विशेष स्थान रखती है। कई नकारात्मक कारणों से हम अर्से से अपने समकाल की कविता के समग्र और मूल्यवान अवबोध से कट गए हैं। अभ्यस्त सम्प्रेषण प्रक्रिया से हटना नामंजूर करते हुए हम अपने पाठ-बोध की खामियों को भी कविता पर मढ़ते रहे हैं। कविता मनुष्य की बहुत अपनी चीज़ है। संवेदन, भाषा, बिम्ब, सोच-हर दृष्टि से सारभूत को उपलब्ध करने की बेचैनी ही कविता के पास ले जाती है। अंतर्जगत को अधिक खोलना, नम करना और चेतना को उर्वर बनाए रखना कौन नहीं चाहेगा?

'कवि और कविता' में हम महत्वपूर्ण समकालीन कवियों की ताजा कविताएँ, अपनी सृजन प्रक्रिया पर उनके वक्तव्य और कवि के समग्र लेखन पर ताजातरीन टिप्पणी देते हैं। प्रस्तुति का क्रम कविता की उपलब्धता के अनुसार है वरिष्ठता के अनुसार नहीं। पिछले अंकों में आपने मंगलेश डबराल, अरुण कमल, शलभ श्रीराम सिंह, ज्ञानेन्द्रपति, रामदरश मिश्र, लीलाधर जगूड़ी, नरेन्द्र जैन, मानबहादुर सिंह की कविताएं पढ़ी थीं। इस अंक में प्रस्तुत हैं- राजेश जोशी। समीक्षात्मक टिप्पणी दे रहे हैं - वेद रमण।

—संपादक



राजेश जोशी

नेलकटर

यह नेलकटर बरसों से हमारे घर में है।
एक तरह से इसे पुश्तैनी भी कहा जा सकता है।

मेरे बाबा इसीसी से अपने नाखून काटते थे।
वो वक्त के बहुत पाबन्द थे और गुरूवार को हजामत नहीं बनवाते थे
वो कभी नंगे सिर घर से बाहर नहीं निकले
कोई पाँव घसीट कर चलता या चप्पल बजा कर
तो वो बहुत गुस्सा होते।
इतना दवदबा था उनका कि उनके जीते जी
माँ ने कभी बाहर का छज्जा नहीं देखा।
वो नवाब के मातहत थे और अचकन पहनते थे
आजादी की लड़ाई में वो कभी जेल नहीं गए।

यह नेलकटर बरसों से हमारे घर में है।
मेरे पिता भी हमेशा इसीसे अपने नाखून काटते थे।
वो नेलकटर के ऊपर लगी फाइल से घिस कर
नाखून की बची हुई नोकों को गोल कर देते थे।
एक बार गाँधी जी जब शहर से गुजरे
वो उन्हें देखने स्टेशन तक गए थे।
कहते हैं इस घर में बहुत बवाल मचा।
चोरी से खरीदा खादी का वो कुरता पाजामा
उसके बाद उन्होंने कभी सोते समय भी नहीं पहना।

उन्होंने कभी किसी से ऊँची आवाज में कुछ नहीं कहा
कुछ दिन बाद वो अंग्रेजों की छावनी में स्टोर-कीपर हो गए
और आजादी के बाद सरकारी खजाने में
बड़े बाबू के पद पर नियुक्त हुए।

यह नेलकटर बरसों से हमारे घर में है।
न इस पर कभी जंग लगी और न धार कम हुई
बचपन में स्कूल में हुए मुआयने में एक बार
मेरे नाखून बढ़े हुए पाए गए।
उस दिन मुझे बहुत डाँट पड़ी स्कूल में भी और घर पर भी।
उसके बाद मेरी बड़ी बहन नियम से काटती रही
मेरे नाखून!

यह नेलकटर बरसों से हमारे घर में है।
अब मैं इसीसे अपने नाखून काटता हूँ।
फाइल पर घिस कर गोल करता हूँ बची खुची नोकें।
मुझे याद नहीं कितने बरसों से मैं ने किसी से
'नहीं' नहीं कहा।

●

खिसियानी हँसी

आततायी आते हैं और जीत लेते हैं!

दुर्बल झुक कर स्वीकार लेते हैं अपनी पराजय
जो मारे जाते हैं गाथाएँ बन जाती हैं उनकी
(और गाथाओं को जीतना संभव नहीं
आदमी को मारने जितना आसान नहीं गाथाओं को मारना!)
बचे हुए दुर्बल लोग अपनी कला से, अपने कौशल से
धीरे धीरे जीत लेते हैं मालिकों का मन!
एक दिन वे मालिकों की कमजोरी बन जाते हैं
एक दिन उनकी आदत पड़ जाती है मालिकों को।

एक दिन आता है जब मालिकों के हावभाव
गुलामों की तरह होते जाते हैं।
एक दिन मालिकों का चेहरा दिखने लगता है
अपने गुलामों की तरह!

एक दिन आततायियों की क्रूरता लगने लगती है हास्यास्पद,
एक दिन उनका गुस्सा लगता है बहुत निरीह!
एक दिन उनके चिल्लाने पर
गुलाम मुस्कुरा देते हैं!

एक दिन आततायी अपनी असहायता को छिपाते हैं
एक खिसियानी हँसी में।

●

मेरा डर

एक

मेरा डर मेरी खाल के जूते पहने था।

एक था मेरी और उसकी कमीज का रंग
मेरी जुर्राबों की तरह फटी थी उसकी भी जुर्राबें
और उनसे मेरे ही पसीने की बू आती थी।

कितनी एक-सी शक्ल थी हमारी
लम्बे कान और नाक के पास का मस्सा तक एक-सा था।
मेरे अंदर वो इस तरह छिप कर रहता था
कि मेरा मन उसके लिए एक गुफा था।
वह मुझे सिर्फ मेरी कमजोरियों की याद दिलाता था
साहस जैसी भी कोई चीज मुझमें हो सकती है
यह मैं भूलता जा रहा था।

हालाँकि वो मेरी शरण में था
पर लगता था कि मैं ही उसका चेहरा लगाए घूमता हूँ।

दो

मैं बोलना चाहता हूँ
वो मेरी जबान पकड़ लेता है : इस तरह मत बोलो।
मैं उंगली दिखाता हूँ कि उधर देखो
उधर गलत हो रहा है
वह रोकता है कि उंगली मत दिखाओ
यह खतरनाक है।

कहता है : 'वक़्त बदल गया है
दुनिया में बहुत अंधेरा है, बत्ती गुल हो गई है
उम्मीद कोई ऐसी चीज नहीं जिसे मोमबत्ती या कंदील की तरह जलाया
जा सके।
ठोकर खाने से ज्यादा अच्छा है एक जगह बैठे रहो
चुपचाप।

बोलने की अहमियत खत्म हो चुकी है
और हत्यारे सड़कों पर घूम रहे हैं खुलेआम।

अन्यायी के पास बहुत अधिक सत्ता है
और अत्याचारी के पास ही बची है ताकत!'

मैं कहना चाहता हूँ, कुछ कहना चाहता हूँ
लेकिन वह टी. वी. की आवाज़ इतनी बढ़ा देता है
कि कुछ भी सुनाई नहीं देता उस शोर में।

●

हमारी कोई दस्तक नहीं

मिट्टी पानी और आग से बनाया गया हमें
और भूल गए हमारी आँखों में आकाश रखना
हमारे पैरों में बाँधना उड़ान!

बहुत बौनी थीं हमारी इच्छाएँ
हमारे दुख बहुत नाटे
हमें हमारे बचपन में ही कोई लांघ गया।

हम जानते ही नहीं थे प्यार करना
घृणा करने की ताकत नहीं थी हम में
हमारे समय के दरवाजे पर
हमारी कोई दस्तक नहीं थी।

●

रेस्त्रां में इंतज़ार

वो जिससे मिलने आई है वह अभी तक नहीं आया है।
वो बार बार अपना पर्स खोलती है और बंद करती है
घड़ी देखती है और देखती है कि वह चल रही है या नहीं
एक अदृश्य दीवार उठ रही है उसके आसपास
ऊब और बेचैनी के इस अदृश्य घेरे में वह अकेली है
एकदम अकेली!
वेटर इस दीवार के बाहर खड़ा है।

वेटर उसके सामने पहले ही एक गिलास पानी रख गया है।
धीरे धीरे दो घूँट पानी पीती है
और ठंडे गिलास को अपनी दुखती हुई आँखों पर लगाती है।
वह रेस्त्रां के बाहर लगे पेड़ों के पार देखने की कोशिश करती है
पेड़ जैसे पारदर्शी हों।
अदृश्य दीवार के बाहर खड़ा वेटर असमंजस में है
आर्डर लेने जाए या नहीं

जीवन की न जाने कितनी आपाधापी के बीच से
चुरा कर लाई थी वह इस समय को
जो धीरे धीरे बीत रहा है।

उसने अपनी कुर्सी को घुमा लिया है।
प्रवेश द्वार की ओर पीठ करके बैठ गई है
जैसे उम्मीद की ओर।
वह सुनती है कहीं अपने अंदर बहुत धीमी
किसी चीज़ के दरकने की आवाज।

वक्तव्य

कविता सांस लेने का संघर्ष है

राजेश जोशी

कविता पर वक्तव्य देने में मुझे संकोच होता है। क्या मैं कविता की कूवत को कम करके आँक रहा हूँ? मैं उसकी तरफ से या उसके बारे में क्यों बोलना चाहता हूँ?

कविता मुझे लगता है, कविता से कुछ अधिक या कुछ कम नहीं होती। वह स्वयं एक सृष्टि है इसलिए किसी अन्य सृष्टि से वह कमतर नहीं। उसे किसी और चीज़ से नहीं बदला जा सकता। उसका कोई विकल्प नहीं। मनुष्य के लिए वह कविता के रूप में ही इतनी जरूरी और पूरी है कि उसे कुछ और बनाने की जरूरत भी नहीं। ऐसा करना उसकी सामर्थ्य में अविश्वास करना है। मनुष्य ने उसे अपने सबसे गहन और निजी क्षणों में, अपने सबसे जागृत और भावानुतीत क्षणों में रचा है। उसके हर शब्द को अपने अनुभवों की आंच दी है। भला ऐसी कोई चीज़ वो क्या ईजात करेगा, अपनी सारी सृजनात्मकता, कल्पनाशीलता और अपने सारे अनुभवों को झाँक कर, जो उसके लिए किसी काम की न हो या जो किसी और चीज़ में बदली जा सके। जो अपर्याप्त हो।

कविता, उसके बारे में सोचे गए, अनुमान किए गए या बनाए गए सभी मानदण्डों का अतिक्रमण कर जाती है। इसलिए कोई भी वक्तव्य अधूरा है, अपर्याप्त है। गालिब से उधार लेकर कहूँ कि वह 'तमन्ना का दूसरा कदम' है जिसके लिए 'दश्त-ए-इम्काँ' 'एक नक्श-ए-पा' के बराबर है। कविता हमारे चेतन और अवचेतन के बीच जो एक छिपा हुआ सा, ढका-मुँदा सा संबंध है, उसे न केवल देख लेती है बल्कि बिना किसी परवाह के (लेकिन बिना विवेक के नहीं।) आपस में जोड़ देती है। वह ऐसी तमाम ऐन्द्रिक चीजों को फिर से संयाजित करती है जिनमें जीवन की धड़कन हो, ताप हो। ऐसा करते हुए वह पहेली भी लग सकती है और जादू भी। लेकिन हर हाल में प्रथमत: और अंतिम रूप में भी कविता जीवन को बेहतर बनाने के लिए संघर्षरत, हर अन्याय और अत्याचार का प्रतिकार करते, लड़ते हुए आदमी के पक्ष में बोला गया शब्द है। उसकी हर जद्दोजहद में हिस्सेदारी करता हुआ। इसलिए साफ है कि वह कभी भी तटस्थ नहीं हो सकती।

इस समय जब लिखित शब्द कम हो रहा है, बोला गया शब्द अनसुना किया जा रहा है और छवियों का एक विराट प्रपंच चारों तरफ फैला हुआ है कविता के लिए जगह कम हुई है पर उसकी चुनौती बढ़ी है। यह ऐसा समय है जब देश आत्मनिर्णय का साहस दिनों-दिन खो रहा है। एक ओर बाजार की आक्रामक चमक-दमक और शोर है और दूसरी ओर हिंसक बर्बरता। जो असहमत है और अस्वीकार में हाथ उठाता है, मारा जा रहा है। सामान्य मनुष्य की सुरक्षा के लिए बने जनतांत्रिक संस्थान हत्यारों के गले में गलबहियाँ डाले हैं। एक ओर दुनिया भर की साम्राज्यवादी शक्तियाँ एकजुट हो रही हैं और दूसरी ओर मध्यवर्गीय बौद्धिक और जनता के बीच विखंडन के विचार को परोसा जा रहा है। यह एक ऐसी बौद्धिक चालाकी है जो हर सृजनात्मक कर्म को अविश्वसनीय और निरर्थक बनाने में लगी है। तादॅ्यूश रोजेविच ने आधुनिक कविता को सांस लेने का संघर्ष कहा है। मुझे लगता है कि इस सारे कुहासे के बीच कविता ही मनुष्य का ऐसा उत्पाद है जिसपर यकीन किया जा सकता है। उसी ने उन जगहों को आज भी सुरक्षित बचा रखा है जहाँ हत्यारों के लिए प्रवेश निषेध है।

कविता लिखी तो एक बार जाती है पर दोहराई बार-बार जाती है। इसी तरह बार-बार उसका एक नया जन्म होता है। ❑

राजेश जोशी

उम्मीद की कविता

वेद रमण

हमारे समय में सामाजिक संकट के लगातार और गहराते जाने के लक्षण साफ दिख रहे हैं। नाउम्मीदी भरे इस माहौल में उम्मीद की झिपझिपाती रोशनी धुंधला उजाला बिखेरती है। राजेश जोशी की कविता पर धुंधले उजाले का जो चंदोवा तना है वह सुबह के आने की सूचना देता है या सांझ के गहराने की? राजेश जोशी के शिल्प में एक प्रकार की तटस्थता या निर्वैयक्तिकता की घुलावट है। उनकी कविता में स्मृति और विस्मृति के अत्यंत सजग संतुलन के सहारे सांस्कृतिक जड़ों, परम्पराओं और लोकजीवन के तत्वों की ओर लौटने का जोर है। उनमें नैतिकतावादी जीवनदृष्टि तथा बुनियादी राग व ऐन्द्रिकता को बचाए रखने की बेचैनी बची हुई है।

राजेश जोशी की कविता-दृष्टि साधारण जीवन से अति साधारण कुछ चुनी हुई चीजों, घटनाओं, दृश्यों को चुपके से उठा लेती है और असाधारण बनाने में जुट जाती है। वे विचार और संवेदना को अपनी सुविधानुसार टुकड़ों-टुकड़ों में छांट लेते हैं और कविता में चमत्कारिक गति भरने के लिए घटनाओं को ऊर्ध्वगामी बनाकर पेश करते हैं। कवि की आत्मा वर्तमान के राग की आश्वस्ति की बजाय भविष्य के चिराग की आशंका में लिथड़ी दिखाई पड़ती है।

राजेश जोशी की कविता में अपने मूलभूत अधिकारों से वंचित निम्न मध्यवर्ग की दीनता, दर्द और बेकसी का उभार दर्ज है। निम्न मध्यवर्ग से जीवंत आत्मिक लगाव और परिवेश से ऐन्द्रिक रिश्ते ने राजेश जोशी की कविता को नए सरोकार और नई काव्यानुभूति दी। कविताओं में मूड्स की इतनी भिन्नताएँ हैं कि केन्द्रीय अभिप्राय को पकड़ पाना अगर असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य है। आत्मीयता से भरे दुर्लभ लैण्डस्केप कवि के ह्यूमन कन्सर्न की पड़ताल करते हैं।

गाँव और शहर का अन्योन्याश्रित राग पैदा करना दुर्लभ व्यापार है जो राजेश के विचार में पगकर सहज उपलब्ध है— 'झुकने मत दो अपने कंधों को/ कि वहाँ बैठकर बच्चों को देखने हैं मेले और जुलूस' और 'कंधों को रहने दो यक़ीन के काबिल/ कि यक़ीन किया जा सके तुम पर।' राजेश जोशी की कविता में कुछ चुने हुए शब्दों का पक्ष-प्रतिपक्ष है मसलन सुख, खुशी, हँसी एक तरफ और उदासीनता, घृणा, नफरत, ऊब दूसरी तरफ। कवि को मनचाहे ढंग से किसी भी शब्द को पदार्थ बनाकर प्रयुक्त करने में महारत हासिल है। वह प्रत्येक शब्द में अर्थ की अनंत संभावनाएं टटोलता है और इसी प्रयास में 'नट' जैसी कविता खड़ी करता है जिसका पाठ समूचे समकालीन समय के उतार-चढ़ाव को अपने में समाहित कर लेने की क्षमता रखता है। किन्तु प्रश्न इस कविता से जुड़ी संवेदना की विशिष्टता और निजीपन का है।

राजेश जोशी जटिल स्थितियों को धीरे-धीरे उरेहते हैं और उसमें जीवन की रचनात्मक संभावनाओं को भरने की कोशिश करते हैं। इस प्रक्रिया में कविता की भाषा में बोलचाल की भाषा ठस जाती है। जबकि उपभोक्ता संस्कृति सार्थक एवं समर्थ शब्दों को ढकेल बाहर करने के लिए तत्पर है और प्रयास कर रही है कि शब्दों की सृजनात्मक क्षमता का क्षरण हो, ऐसे में काव्य भाषा के प्रति राजेश का सहज बर्ताव स्थानीयता के रंग घोलता है। राजेश जोशी के यहाँ मुक्तिबोध का 'हाय! हाय!' अंदाज अपनी नैतिक विकलता के बावजूद अखरता है। राजेश जोशी के सघन काव्य विन्यास में अद्भुत शब्द चित्र अंटे पड़े हैं। उनकी कविता-वस्तु में तिलमिलाहट और प्रश्नाकुलता की परिव्याप्ति के बावजूद शिल्प में प्रशान्ति है, तनाव की बजाय गहरी मोहाविष्टता है। कहना न होगा कि राजेश जोशी के चहुंओर अपेक्षाओं का वितान खड़ा करने में हमारे भीतर कहीं बची उम्मीद है, जिसका बने रहना उनके कविता सफर को संभावनासिक्त करता है।

संवाद

शिवकुमार मिश्र और नवलकिशोर की बातचीत

मार्क्सवादी साहित्य चिन्तन और आज की चुनौतियाँ

नवलकिशोर : डॉ. साहब, 1991 में सोवियत एवं पूर्वी यूरोपीय साम्यवादी व्यवस्थाएँ वहाँ के अवाम द्वारा अस्वीकार कर दी गईं। चीन में अब भी वहाँ के साम्यवादी दल का एकाधिकार है, लेकिन 1989 वाली थियेन मियेन चौक की घटना को असंतोष की एक क्षणिक घटना के रूप में नहीं देखा जा सकता। हमारे देश में समाजवाद का जो नाम मात्र का नेहरूयुगीन ढाँचा था, उसे भी तिलांजलि दी जा चुकी है। इन घटनाओं से आपकी मार्क्सवादी आस्था और आपका साहित्य चिंतन कहाँ तक प्रभावित हुआ है?

शिवकुमार मिश्र : पूर्वी यूरोप तथा सोवियत शासन व्यवस्था का विघटन हुआ और जनता में इसके खिलाफ कोई बहुत बड़ा उद्वेलन नहीं हुआ। वहाँ आर्थिक परिदृश्य में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हुए हैं। चीन के बारे में मेरे विचार कुछ अलग हैं। ये सारी बातें अपनी जगह पर सही हैं। इन घटनाओं के पीछे कुछ ठोस वस्तुगत कारण हैं, जिनके विस्तार में मैं फिलहाल नहीं जाऊँगा, अन्यथा विषयान्तर होगा। अपने देश में भी कांग्रेस सरकार के द्वारा ही नेहरू का समाजवाद पृष्ठभूमि में फेंक दिया गया, यह भी सही है। इन सारी घटनाओं ने व्यापक स्तर पर उन लोगों को झकझोरा है और अशान्त किया है, जो लम्बे समय तक समाजवाद के प्रति आस्थावान रहे और जिसके लिए उन्होंने संघर्ष किया। जहाँ तक साहित्य और कला सर्जना या साहित्य और कला चिन्तन का प्रश्न है, यह भी सही है कि आज इन क्षेत्रों में हम नए सिरे से सोच रहे हैं और चली आती हुई सोच के तहत पहले की तरह गतिशील नहीं हैं। जहाँ तक आस्था का सवाल है, विचारधारा का सवाल है, एक तात्कालिक मनोद्वेलन तो जरूर हुआ है, किन्तु मूलभूत आस्था में कोई कमी नहीं आई है। मैंने इसे इस रूप में समझा है कि एक सिस्टम, कुछ बाहरी और कुछ आंतरिक दबावों से ध्वस्त हुआ, ध्वस्त सिस्टम हुआ है, उसके पीछे निहित विचार ध्वस्त हो गया हो, ऐसा मैं नहीं मानता। मार्क्सवाद जिन्दगी के तमाम बुनियादी सवालों पर और साहित्य तथा संस्कृति से जुड़े हुए मुद्दों पर हमारे अपने परिवेश में आज भी उतना ही कारगर और प्रासंगिक है। हाँ, इस विघटन ने हमें आत्ममंथन करने के लिए मजबूर जरूर किया है, चीजों को और स्थितियों को नए सिरे से पहचानने के प्रति सजग किया है, कुछ सबक हमें मिले हैं।

नवलकिशोर : आप साम्यवादी व्यवस्थाओं के विघटन को प्रणाली की विफलता के रूप में ले रहे हैं। क्या आपको ऐसा नहीं लगता कि मार्क्सवाद की मूलभूत स्थापनाओं में भी कुछ संशोधन

की जरूरत है। जैसे कि सर्वहारा वर्ग की तानाशाही और एकदलीय शासन की अवधारणा। साहित्य-चिंतन पर इन व्यवस्थाओं के विघटन का प्रभाव क्या इस रूप में नहीं हुआ है कि अब लेखकों के सामने एक सम्भव आदर्श राजव्यवस्था का सपना टूट गया है जो समतावादी समाज की स्थापना से जुड़ा हुआ था। आलोचना में साहित्य का जो प्रमुख प्रतिमान अब तक था कि कृतियों की परख वर्गहीन समाज के प्रति क्रांतिकारी चेतना की अभिव्यक्ति के आधार पर की जाए क्या उसमें संशोधन आवश्यक नहीं हो गया है?

शिवकुमार मिश्र : आपके प्रश्न का प्रारम्भिक हिस्सा गहरे राजनीतिक निहितार्थों से सम्पृक्त है जिसमें मार्क्सवाद की कतिपय बुनियादी मान्यताओं के परिवर्तन की बात है। इस पर मैं विशेष नहीं कहना चाहूँगा। सिर्फ इतना कहूँगा कि मार्क्सवाद कोई जड़ स्थिर दर्शन या विचारधारा नहीं है। वस्तुस्थिति के अनुरूप समय-समय पर उस पर विचार-पुनर्विचार होता है, नई स्थितियों और चुनौतियों के संदर्भ में उसे विकसित भी किया जा रहा है। जहाँ तक साहित्य और कला रचना का सवाल है, जैसा पर्सपेक्टिव या विजन पहले था जरूर अब वैसा नहीं है, किन्तु वह पर्सपेक्टिव, परिप्रेक्ष्य या विजन हमारे लिए एकदम अर्थहीन हो गया हो, ऐसा नहीं है। वर्गहीन समाज या ऐसी दीगर बातें हमारे लिए विनियोग के स्तर पर पहले जैसी भले न रह गई हों, किन्तु लक्ष्य के बतौर आज भी हमारे लिए महत्त्वपूर्ण हैं। कारण वे हमारी ईजाद नहीं हैं। समाज में वर्ग मार्क्सवाद ने नहीं बनाए, हमारी सामाजिक संरचना में वे रहे हैं और हैं। मार्क्सवाद ने उस सत्य को देखा, पहचाना और रेखांकित किया। वर्गभेद वाले समाज का जीवन विशेषत: बहुसंख्यक जनता का जीवन हमारे सामाजिक इतिहास में दर्ज है जिसके तहत कभी वर्गहीन समाज की बात सोची गई थी। एक माडल आया, अपनी तमाम उपलब्धियों के साथ वह चला, किन्हीं विशेष कारणों के चलते, जिनका संकेत मैं कर चुका हूँ, वह असफल हो गया। इसके माने यह नहीं है कि वर्गहीन समाज का लक्ष्य ही अप्रासंगिक हो गया अथवा वह गलत था या है। वर्गहीन समाज के पीछे मार्क्स की आर्थिक सामाजिक शोषण से बहुसंख्यक मनुष्यता की मुक्ति की जो चिंता जुड़ी हुई है, जब तक हमारा समाज अपनी सारी विषमताओं के साथ वर्ग समाज है, वर्गहीन समाज की बात को कैसे नकारा जा सकता है। हाँ, रचनाशीलता के धरातल पर ये सारी बातें किस रूप में आएं या किस रूप में लाई जाएँ, इन्हें लेकर बातचीत हो सकती है। हमारी तमाम सफलताएँ-असफलताएँ बताई जा सकती हैं। हमारे साहित्य-चिंतन के पिछले कुछ अतिवादों का जिक्र किया जा सकता है। लेकिन ये सारी बातें साहित्य के रचनाकर्म और चिन्तन-कर्म से जुड़ी बातें हैं। इन पर हम विचार-पुनर्विचार करते रहे हैं। गलतियाँ स्वीकार करते रहे हैं, नए रास्ते निकालते रहे हैं। आत्मालोचन करते रहे हैं और इसे आगे भी जारी रखना चाहते हैं। मसलन, किसी समय परम्परा के मूल्यांकन को लेकर हमने गंभीर गलतियाँ कीं। समकालीन साहित्य के मूल्यांकन में यांत्रिक तरीके से काम लिया, सरलीकरण किए, इन सबकी बड़ी कीमत भी चुकाई। किन्तु हमने नए प्रस्थान बिन्दु खोजे और परम्परा के मूल्यांकन में ही नहीं, समकालीन साहित्य के मूल्यांकन में भी अपने दृष्टिकोण की प्रखरता और वैज्ञानिकता को रेखांकित किया।

नवलकिशोर : पश्चिम में वर्ग संरचना बदल गई है। हमारे यहाँ भी यदि सचमुच में कभी आर्थिक प्रगति होती है तो वर्गों का रूप बदल जाएगा, तकनीकी समाज में श्रमिक वर्ग की भूमिका बहुत गौण हो जाती है। ऐसे में यह निर्णय करना अभी लगभग असंभव है कि नई क्रांतिकारी चेतना के संवाहक वर्ग कौन से होंगे? आज मार्क्सवाद के मानववाद को ही नहीं किसी भी मानव केन्द्रित दर्शन को अप्रासंगिक करार दिया जा रहा है। उपभोक्ता समाज में मनुष्य पर वस्तु का वर्चस्व स्थापित

हो चुका है। ऐसे में क्या अमानवीयकरण की शक्तियों के विरुद्ध मार्क्स की मानव-मुक्ति की चिंता को केन्द्र में नहीं लाना चाहिए और इसी के साथ साहित्य में भी परम्परित निष्ठा के स्थान पर मानवीय सम्बद्धता को महत्त्व नहीं दिया जाना चाहिए? बिना किसी यूटोपिया के प्रति विश्वास किए भी, इस प्रकार की सम्बद्धता उत्तर पूँजीवाद की मनुष्य-विरोधी शक्तियों से जूझने के लिए प्रेरक हो सकती हैं।

शिवकुमार मिश्र : आपने भविष्य में आने वाली जिन स्थितियों या परिदृश्य की चर्चा की है, उसके बारे में एकदम अभी बहुत दो टूक बात नहीं की जा सकती। पश्चिम के समाजों की बात छोड़ दें और अपने को भारत पर केन्द्रित करें तो हमारे समाज की संरचना पश्चिम की तुलना में ज्यादा जटिल है। वर्गों के साथ-साथ हमारे यहाँ वर्ण हैं, जातियाँ, उपजातियाँ हैं। इसके पहले कि वर्ग आधार पर हम मार्क्सवाद की शब्दावली में वर्ग-चेतना और वर्ग-संघर्ष की बात करें, हमें अपने समाज में विद्यमान जाति-चेतना एवं वर्ण-चेतना के सवालों से टकराना है। आर्थिक उदारीकरण और उत्तर पूँजीवाद का जो माहौल शुरू हुआ है, जिनके बड़े-बड़े विज्ञापन सम्प्रति टी. वी. पर प्रसारित किए जा रहे हैं और 21वीं शताब्दी को भारत की शताब्दी बताया जा रहा है, उत्तर पूँजीवाद का जो भविष्य पश्चिम में प्रकट है जिसके फलस्वरूप आपने श्रमिक वर्ग के महत्त्वपूर्ण न रह जाने की बात की है; नई सामाजिक संरचना की बात की है; क्या भारत में भी ऐसा ही भविष्य आएगा? इसके बारे में कुछ विचार करने की जरूरत है। हम तमाम सामन्ती ताम-झामों के साथ, सोच के धरातल पर ही नहीं, भौतिक जीवन के धरातल पर भी 21वीं शताब्दी के उत्तर पूँजीवादी दौर में जा रहे हैं। हमारे यहाँ नई बाजार-व्यवस्था, उपभोक्तावादी संस्कृति किन विकृतियों के साथ और किन परिणतियों के साथ उद्घाटित होंगी, इसकी कल्पना करते भी डर लगता है। पश्चिम का नरक तो हम भोगेंगे ही, जिसके आसार नजर आ रहे हैं। हमारी सामाजिक संरचना की विशिष्टता पश्चिम की तुलना में हमारा गड्ड-मड्ड भौतिक जीवन और गड्ड-मड्ड मानसिकता हमारे देश का असंतुलित विषम विकास, जिसके नाते आधा भारत आज भी आदिवासी है और गरीबी की रेखा के नीचे है— यह भारत आधुनिक दुनिया के दायरे से काफी कुछ अलग-थलग है। मेरे कहने का मतलब है कि नई तकनीक का विस्फोट, हमारे अर्थतंत्र का नया ढाँचा, हमारे समाज को किन नरकों में डालेगा, कहा नहीं जा सकता। यद्यपि प्रचार तंत्र नए जीवन और हमारी सुख समृद्धि के सब्जबागों का मायाजाल रच रहा है।

नवलकिशोर : जातिवाद का अंत, नारी की समानता, आदिवासियों को मुख्यधारा से जोड़ना आदि भारतीय मनुष्य की मुक्ति से जुड़े हुए सवाल हैं। उत्तर आधुनिकतावाद की एक विडम्बना यह है कि वह समाज के हाशिए पर छूट गए तबकों की आजादी की अलग-अलग बात तो करता है, लेकिन सम्पूर्ण मनुष्य की मुक्ति का लक्ष्य वहाँ केन्द्र से विस्थापित भी हो जाता है। भारतीय मार्क्सवादियों को हमारे दलित और वंचित समुदायों की मुक्ति की बात करते हुए क्या सम्पूर्ण मनुष्य की मुक्ति के मुख्य लक्ष्य को केन्द्र में नहीं रखना चाहिए? आज वर्ग-मुक्ति के प्रश्न के वर्ण-संघर्ष, स्त्री-पुरुष संघर्ष और अगड़े-पिछड़े के संघर्ष आदि में भटक जाने की आशंका क्या आपको नहीं लगती?

शिवकुमार मिश्र : इस बारे में हमारी दृढ़ मान्यता यह है कि समाज के दलित और यातनाग्रस्त सामाजिक शोषण के शिकार जो भी वर्ग हैं, जिनमें नारी भी है, इन सबको साथ लेकर मुक्ति से जुड़े सवाल को व्यापक जनतांत्रिक आन्दोलन का अभिन्न हिस्सा बनाकर ही हमें चलना है, उसे अलग-थलग नहीं उठाना है। भारत की आम जनता अपनी जिन्दगी के जिन बुनियादी मुद्दों को लेकर

लड़ रही है और हम उस लड़ाई को नेतृत्व और दिशा दे रहे हैं। स्त्री, आदिवासी, दलितों के मुद्दे भी हमारे इसी जनवादी संघर्ष का हिस्सा हैं या होना चाहिए। आप सही कहते हैं अलग-थलग पड़ जाने पर उनसे जुड़े आन्दोलन भी दिग्भ्रमित हो सकते हैं।

शिवप्रसाद शुक्ल : नवलकिशोर द्वारा पूछा गया मानवीय सम्बद्धता वाला सवाल आपके उत्तर में रह गया।

शिवकुमार मिश्र : यह ऐसा सवाल है जिस पर नवलकिशोर जी की बातों से मेरा कोई मतभेद नहीं है। वर्ग आधार पर सोचने और निर्णय करने की बात हमारी बुनियादी चिंता का हिस्सा है किन्तु जिस मानवीय सम्बद्धता की बात नवलकिशोर कर रहे हैं, एक मानववादी दर्शन होने के नाते मार्क्सवाद से वह अलग कहाँ पड़ता है? सवाल तो मनुष्य की और मनुष्यता की मुक्ति का है, उनकी समूची अस्मिता को फिर से उसे लौटाने का है, उपभोक्तावाद के ऊपर हावी हो जाने के क्रम में उसके क्षत-विक्षत होने का है। इसके खिलाफ हमें हर संभव उपाय से मोर्चा लेना है। आज स्थितियाँ प्रचंड रूप से उग्र हैं और बदल रही हैं। अपनी तरह से यही संकट और यही चुनौती मार्क्स के समय में भी थी और उनकी भी मुख्य चिंता एक वस्तु के रूप में बदल जाने से मनुष्य और मनुष्यता को बचाने की थी। मनुष्य परायेपन की भावना से और आत्मनिर्वासन से उबर कर अपने को समूचेपन में पा सके यही तो मार्क्स की चिंता थी। मनुष्य की समग्र मुक्ति की संभावना उन्होंने साहित्य और कलाओं में देखी थी।

शिवप्रसाद शुक्ल : हिन्दी में मार्क्सवादी आलोचना की विसंगतियाँ क्या हैं? और उनसे छुटकारे के लिए ठोस सुझाव देना चाहेंगे?

शिवकुमार मिश्र : हिन्दी में मार्क्सवादी आलोचना का इतिहास 50-60 वर्षों का इतिहास है। इस दौर में उसकी शक्ति और सीमाएँ दोनों उजागर हुई हैं। उसके आरोह और अवरोह से सब परिचित हैं। गलतियाँ हुई हैं, दृष्टिकोण के धरातल पर भी और उस दृष्टि के आलोचनात्मक विनियोग के धरातल पर भी। जैसा मैं कह चुका हूँ गलतियों को स्वीकार भी किया गया है और सुधारा भी गया है। किन्तु अपनी गलतियों से सीख लेते हुए मार्क्सवादी आलोचना अब एक वयस्क आलोचना दृष्टि के रूप में भी हमारे सामने हैं, उसकी उपलब्धियाँ भी बहुत कुछ स्पष्ट हैं। तमाम सारी आलोचना दृष्टियों के बीच मार्क्सवादी आलोचना ही हिन्दी की सबसे जागृत और महत्त्वपूर्ण आलोचना है। उसकी प्रधानता ही उसकी शक्ति का प्रमाण है, फिर भी अलग-अलग आलोचकों में और कुल मिलाकर भी कुछ विसंगतियाँ हैं जो हमारी चिंता का विषय हैं। हमारी कोशिश यही है कि हम दृष्टिकोण एवं विनियोग दोनों के स्तरों पर पारस्परिक आपा-धापी, प्रतिस्पर्द्धा, अतिवाद और उदारतावाद की असंगतियों से उबरें ताकि हम उसकी साख को बचाए रख सकें। रही पॉलिमिक्स की बात तो वह हमारे ज्ञानानुशासन का अभिन्न हिस्सा है। हमारी कोशिश है कि वह साहित्यिक मुद्दों पर केन्द्रित हो, व्यक्तिगत उखाड़-पछाड़ पर नहीं, जैसा कि देखने में आया है और आता भी है। हम अपनी आलोचना दृष्टि के प्रति निष्ठावान हों, साथ ही गंभीर हों, रचना को सम्मान के साथ देखें। उसकी स्वायत्तता को अपने आग्रहों पूर्वाग्रहों से क्षतिग्रस्त न होने दें। मैं समझता हूँ कि अब भी इस बारे में मुक्तिबोध की स्थापनाएं और निष्कर्ष हमारे लिए बहुत प्रासंगिक और महत्त्वपूर्ण हैं। हमारे लिए साहित्य में सम्पूर्णतः कुछ भी स्वीकार्य और अस्वीकार्य नहीं है। हम रचना की मूलवत्तता की परख उसके समूचेपन में, उसके अन्तर्विरोधों को पहचानते हुए और उन्हें विश्लेषित करते हुए करने के

पक्ष में हैं। इस संबंध में लेनिन के टालस्टाय पर लिखे गए निबंध अब भी हमारा मार्ग दर्शन कर सकते हैं।

नवलकिशोर : अब तक के अपने आलोचना कर्म से आप कहाँ तक संतुष्ट हैं? कहाँ उससे असंतोष का पुराना और नया अनुभव है और भविष्य में आपकी योजनाएँ क्या हैं?

शिवकुमार मिश्र : जहाँ तक मेरे आलोचना कर्म की बात है उसके संबंध में मेरी कोई खुशफहमी नहीं है। अपनी शक्ति और क्षमता पर जो कुछ मैं कर सका मैंने किया। उसके सकारात्मक पहलू यदि कुछ हैं तो वे मेरे पाठकों के ज्ञान और समझ के दायरे में होंगे। मेरे सामने हमेशा मेरी सीमाएँ ही चुनौती के रूप में रही हैं। मैंने जो कुछ पढ़ा, उसका आधार लेकर मैंने सिद्धांत चर्चा ज्यादा की, व्यावहारिक समीक्षा कम। समीक्षक की शक्ति और दुर्बलता दोनों विनियोग की धरातल पर ही उद्घाटित होती हैं। मध्यकाल के और आधुनिककाल के हिन्दी साहित्य पर मैंने कुछ व्यावहारिक समीक्षा की है जिनके गुण-दोष का निर्णय पाठक ही कर सकते हैं। जो बात मुझे बार-बार खटकती रही है वह यह कि समकालीन रचनाशीलता से मैं बहुत कम रू-ब-रू हो पाया हूँ। मेरी इच्छा है कि मैं समकालीन कविता और समकालीन कथा-साहित्य पर कुल मिलाकर और उसके कुछ विशिष्ट हस्ताक्षरों पर विशेष रूप से, अलग से कुछ लिखूँ। इधर मैंने इस पर काफी कुछ पढ़ा है— कविताएँ भी, कहानियाँ और उपन्यास भी। मैं इस पर अब जरूर कुछ लिखना चाहता हूँ। सिद्धांत चर्चा करना तो आसान है लेकिन यदि मैं समकालीन रचनाशीलता पर कुछ लिख सका तो मुझे निश्चय ही बहुत संतोष होगा। दूसरे, मैं अब तक की हिन्दी की मार्क्सवादी आलोचना का व उसके कुछ विशिष्ट समीक्षकों के समीक्षा कर्म का विस्तार पूर्वक मूल्यांकन करते हुए समग्रत: कुछ लिखना चाहता हूँ— आलोचना की दूसरी परम्परा के नाम से। यही दो सबसे बड़े कार्य-भार इस समय मेरे सामने हैं, जिन्हें पूरा करने में संभवत: मैं भी पूरा हो जाऊँ। मैं यह कर सका तो यह मेरा सबसे बड़ा संतोष होगा। इसके अलावा अपने बारे में मेरा कोई मुगालता नहीं है।

नवलकिशोर : क्या आलोचना की इस दूसरी परम्परा में केवल वे आलोचक रहेंगे जो मार्क्सवादी चिंतन से सीधे जुड़े हैं या वे भी जो मार्क्सवाद से प्रत्यक्ष नहीं तो अप्रत्यक्षत: गहरे प्रभावित हैं?

शिवकुमार मिश्र : वस्तुत: जब मैं आलोचना की दूसरी परम्परा की बात करता हूँ तो उसकी बुनियाद में रहने वाली, उससे प्रेरित, अनुकूलित और अनुशासित करने वाली एक विशिष्ट जीवन-दृष्टि या दार्शनिक दृष्टि के तहत ही ऐसा करता हूँ। यह दार्शनिक दृष्टि स्पष्टत: द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी दार्शनिक दृष्टि है, जिस पर सम्पूर्ण मार्क्सवादी आलोचना टिकी है। स्वभावत: इसके दायरे में वही आलोचक आएंगे जिन्होंने इस दार्शनिक दृष्टि को स्वीकार करते हुए अपने साहित्यिक दृष्टिकोण और आलोचना कर्म को निर्मित किया और निखारा है। वे आलोचक जो दार्शनिक दृष्टिकोण अथवा जीवन-दृष्टि के धरातल पर हमारे साथ सर्वांशत: नहीं हैं, बावजूद कतिपय अलग प्रयाणों के जो हमारे अपने दृष्टिकोण से काफी कुछ करीब आते हैं, दूर तक हमारे हमसफर हैं और हमारे आलोचना कर्म में, साहित्यिक मूल्यांकन की प्रक्रिया में हमारे मददगार बनते हैं, मैं उनका लेखा-जोखा भी लूँगा। यानी कुल मिलाकर विशुद्ध मार्क्सवादी आलोचना के अलावा वामचेतना-सम्पन्न साहित्यिक अंतर्दृष्टि वाले समीक्षकों के योगदान का भी हमारे लिए मूल्य और महत्त्व रहेगा।

नवलकिशोर : प्रगतिशील लेखक संघ स्पष्ट ही भारतीय साम्यवादी दल से जुड़ा हुआ है और आपका जनवादी लेखक संघ साम्यवादी मार्क्सवादी दल का साहित्यिक मोर्चा है। क्या दोनों संगठनों के

अब भी अलग-अलग अस्तित्व की आवश्यकता है? इसके अतिरिक्त क्या आज सभी प्रकार के वामपंथियों का एक संयुक्त मोर्चा तात्कालिक आवश्यकता नहीं बन गया है? जनवादी लेखक संघ के महामंत्री के रूप में इस दिशा में आपकी सोच क्या है?

शिवकुमार मिश्र : जहाँ तक प्रगतिशील लेखक संघ और उसके भारतीय साम्यवादी दल से जुड़े होने की बात है, इस बारे में प्रगतिशील लेखक संघ के लोग ही बात कर सकते हैं। मैं अपने संगठन की बात जरूर करना चाहूँगा और वह यह कि यह बात ही नहीं है कि जनवादी लेखक संघ मार्क्सवादी साम्यवादी पार्टी का साहित्यिक मोर्चा है। हमारा अपना एक घोषणा पत्र है और कोई भी व्यक्ति किसी भी राजनीतिक दल का क्यों न हो अथवा गैर-राजनीतिक हो, यदि वह लेखक है और हमारे घोषणा-पत्र से सहमत है तो वह उसका सदस्य बन सकता है। यह हो सकता है कि हमारे संगठन के कुछ सदस्य और पदाधिकारी मार्क्सवादी साम्यवादी पार्टी से संबंधित हों, किन्तु ऐसा भी है कि हमारे अधिकांश सदस्य और बड़ी संख्या में पदाधिकारी किसी राजनीतिक विचार से भले जुड़े या न जुड़े हों, मार्क्सवादी साम्यवादी पार्टी से संबंधित नहीं है। इस समय तीन वाम लेखक संगठन हैं और उन्हें सी.पी.आई, सी.पी. एम तथा सी.पी.आई (एम.एल)का प्रवक्ता मान लिया जाता है, इस बारे में मैं क्या कह सकता हूँ? हम लोग अपने संगठन में अपने ढंग से काम करते हैं और कोई राजनीतिक दल हमें निर्देशित नहीं करता है। ऐसा होता तो अलग-अलग तरह के राजनीतिक विचार रखने वाले हिन्दी के इतने लेखक हमारे संगठन से न जुड़े होते। जहाँ तक संयुक्त मोर्चा की बात है, इस मोर्चा की आवश्यकता प्रतिपादित करने का एक लंबा इतिहास है। बहुत बार ऐसा प्रयास हुआ परन्तु सफल नहीं हुआ। आपात काल में प्रगतिशील लेखक संघ ने खुले रूप से सरकार का समर्थन किया जिसे बहुसंख्यक वामपंथी लेखकों ने स्वीकार नहीं किया फलत: हमें प्रगतिशील लेखक संघ से अलग होकर अपना संगठन बनाना पड़ा। बाद को सी.पी.आई. और प्रगतिशील लेखक संघ दोनों ने अपनी गलती स्वीकार की। राजनीति के स्तर पर सी.पी.आई., सी.पी.एम. और अन्य वामपंथी राजनीतिक दलों का संयुक्त मोर्चा भी बना। सी.पी.आई. और सी.पी.एम. के अलग-अलग वजूद के बावजूद, पश्चिम बंगाल, त्रिपुरा में यह मोर्चा सत्तारूढ़ है और केरल में सत्तारूढ़ रहा है किन्तु लेखन और संस्कृति कर्म के धरातल पर ऐसा कोई साझा मोर्चा प्रगतिशील लेखक संघ और जनवादी लेखक संघ में नहीं बन पाया। इससे भी प्रमाणित होता है कि जनवादी लेखक संघ किसी राजनीतिक दल के आदेश पर चलने वाला संगठन नहीं है। हाँ, इतनी समझदारी हममें है कि मौजूदा दौड़ में जो चुनौतियाँ राष्ट्र के सामने हैं उनसे निपटने के लिए हम हर नाजुक मौके पर मिल-जुलकर अभियान चलाते हैं। एक मंच पर दूसरे तमाम समान सोच वाले लेखकों और बुद्धिजीवियों के साथ इकट्ठा होते हैं ताकि हमारी शक्ति का अपव्यय न हो, परन्तु वामपंथी लेखक संगठनों के स्थाई संयुक्त मोर्चा की बात अभी हमारे एजेंडे में नहीं है। हमारा सोचना है कि तात्कालिकता के दबाव में एकबारगी ऐसा करना सही नहीं होगा क्योंकि जब तक बुनियादी सहमति नहीं बनती राष्ट्रीय व अंतर्राष्ट्रीय मुद्दों पर हम सहमत नहीं होते तब तक किसी संयुक्त मोर्चे या आरोपित एकता की बात सही नहीं होगी। आगे क्या होता है, यह तो भविष्य बताएगा। फिलहाल जरूरी मुद्दों पर साझा संघर्ष कर सकें यही बहुत है।

नवलकिशोर : लेखक संगठनों की बड़ी या छोटी इकाइयों के गैर-साहित्यिकों, अवसरवादियों व अल्पबुद्धि संकीर्ण दृष्टि वालों के हाथों में पड़ने का खतरा बराबर बना रहता है। कई जगह उनका ज्यादातर कार्य गैर लेखकीय ही रहा है। आपके संगठन में ऐसे खतरों से बचने का 'डिफेन्स

मैकेनिज़्म' कोई है या नहीं? हमारे यहाँ जनवादी लेखक संघ सक्रिय तो है परन्तु बहुत प्रभावी नहीं बन पाया है। उसे अच्छे लेखकों के बीच प्रभावी बनाने के लिए आप क्या कर रहे हैं?

शिवकुमार मिश्र : प्रश्न के पहले भाग का उत्तर देने का अधिकारी मैं नहीं हूँ। जहाँ तक जनवादी लेखक संघ का प्रश्न है एक अखिल भारतीय संगठन होने के नाते, हमारी राज्य तथा जिला इकाइयों में भी सब कुछ एकदम आदर्श नहीं है। स्वभावत: जब तब असंतोष और असहमति की बातें भी उभरती रहती हैं। हम चाहते यह हैं कि अपने कार्यक्रमों के जरिए अधिक से अधिक सक्रिय लेखकों का सहयोग प्राप्त करें। वे हमारे संगठन के सदस्य बनें। यदि राज्य तथा जिला स्तर के नेतृत्व तथा दूसरी बातों से उन्हें असंतोष और असहमति है तो उनके सम्मेलनों के अवसर पर वे संगठित होकर संगठन को मनोनुकूल स्वरूप और नेतृत्व प्रदान करें। संगठन से जुड़े बिना बाहर से असंतोष ही व्यक्त किया जा सकता है। वे संगठन को संवैधानिक तरीके से मनोवांछित रूप दे सकते हैं। यदि इस कार्य में केन्द्रीय नेतृत्व या और कोई उन्हें रोके अथवा उन्हें अपने लाइन पर चलने पर बाध्य करे तभी उनकी शिकायत वाजिब हो सकती है।

नवलकिशोर : एक बैठक की चर्चा में सभी विचारणीय मुद्दों का समावेश होना संभव नहीं है। फिर भी अनेक प्रासंगिक प्रश्नों को यहाँ उठाने का प्रयास मैंने किया है और आपने उत्तर दिए। अब इस चर्चा को विराम देने के पहले स्वयं आपकी प्रशंसा की अनुभूति चाहते हुए मैं अंतिम प्रश्न करूँगा। आप समकालीन साहित्य से गहरे रूप में जुड़े हुए हैं और नए से नए लेखकों से आपने संवाद किया है। मैं व्यक्तिगत उदाहरण हूँ। मैं कभी प्रतिबद्ध मार्क्सवादी नहीं रहा और आपसे परिचय भी बहुत बाद में हुआ। मेरी पुस्तक को आपने कुछ असहमतियों के बावजूद गंभीरता से लिया था। क्या आपको नहीं लगता कि विगत में खुले संवाद के अभाव में मार्क्सवादी आलोचना एक रूढ़ परिपाटी में परिणत हो गई थी? आज भी क्या वैसा खतरा मौजूद नहीं है? खुले संवाद की प्रक्रिया को महत्त्व देने के लिए आप संगठन के मंच से क्या कदम उठा रहे हैं?

शिवकुमार मिश्र : जब मैंने आपकी किताब पर लिखा तब आपसे कोई परिचय नहीं था। मेरे सामने आपकी किताब थी आप नहीं। आपकी किताब के अलावा मैंने आपके विचारों की मूल स्पिरिट को उस समय पहचाना और मैंने उसी समय से अपने मन में उस धारणा को पक्का किया कि कुछेक अपनी विशिष्टताओं के बावजूद विचारों की लड़ाई में आप हमारे साथी हैं, सहयोगी हैं। मैंने आपकी दूसरी किताब के बारे में भी लिखा। मुझे प्रसन्नता है कि तब से अब तक के 20 वर्षों के दौर में आपके विचारों और आपके आलोचकीय व्यवहार के बारे में मेरी धारणा बराबर पुष्ट ही हुई है। जनवादी लेखक संघ के मंच को मैं ऐसा मंच बनाना चाहता हूँ कि हम समान सोच वाले जो बुनियादी मुद्दों पर एकमत हैं, वे सब इकट्ठे हों और अगर हममें असहमति अथवा विचारवैभिन्य के बिन्दु हैं तो बिना एक दूसरे की नीयत पर शंका किए हम उन पर बहस करें, टकराएँ, सहमत-असहमत हों, यह जरूरी भी है। हाँ, हमारा मंच लेखन और संस्कृति का ही साझा मंच हो। चाहे लेखक अलग-अलग राजनीतिक विचारों के हों किन्तु हमारे घोषणा-पत्र के साथ उनकी सहमति हो। हमारा जोर जनवादी सोच पर है, जनवाद हमारे मिलन का बुनियादी मुद्दा है। हम जनवादी हैं। मैं पहले भी कह चुका हूँ कि राजनीतिक विचार हमारी सांगठनिक एकता के निर्णायक नहीं हैं। हम तो किसी धर्म पर आस्था रखने वाले को भी अपने बीच आने का निमंत्रण देते हैं बशर्ते वह साम्प्रदायिक न हो क्योंकि धार्मिक होने और साम्प्रदायिक होने के फर्क को हम जानते हैं।

❑

कहानी

बादशाह हुसैन रिज़वी

पनाह

भूकंप में जैसे कोई मकान भरभरा कर ढह गया हो, धनीराम कमरे में पहुँच कर अपने बिस्तर पर ढेर हो गया। उसके दिमाग में तेज आंधियाँ-सी चल रही थी जिसने ऊँचे-ऊँचे दरख़्तों को उनकी जड़ों से उखाड़ कर फेंक दिया था। अजीब उथल-पुथल मची हुई थी उसके भीतर। कितनी देर तक वह आँखें मूँदे पड़ा रहा। कितनी बार करवटें बदली, शुमार कर पाना मुश्किल था। अंगारों पर लोटते हुए कितनी रात बीत गई, जानने के लिए उसने घड़ी नहीं देखी। उसका मन करता था कि रात खत्म न हो। वहीं ठहरी रहे। लोग सुनेंगे तो क्या सोचेंगे। किस-किस को वह अपनी बेगुनाही का सबूत देता फिरेगा। उन बदमाशों ने अजीब स्थिति में डाल दिया था। कितनी तेज चिंगारियाँ फूट रही थीं उसकी आँखों से। शायद वे उसे जान से मार डालते। उनके तेवर कुछ ऐसे ही थे। तनी हुई लाठियों, गालियों और लपकती भीड़ को याद करके उसने झुरझुरी-सी महसूस की। कुछ देर पहले जो गुज़र गया, जिन्दगी भर वह नहीं भुला पाएगा। इस हादसे ने उसे जड़ों से हिला दिया था।

उस छोटे-से रोड-साईड स्टेशन पर उसे सज़ाअन भेजा गया था। इससे पहले वह बढ़नी स्टेशन पर पार्सल बाबू था। नेपाल बार्डर का स्टेशन होने के नाते खासी कमाई थी वहाँ। बारह बरस तक वह वहीं जमा रहा। इस अवधि में गाँव पर पक्का मकान, खेत, दो बहनों की शादी, पत्नी के लिए गहने। बहुत कुछ कर लिया था उसने। छोटे-बड़े अधिकारी, इंस्पेक्टर सभी उससे खुश रहते क्योंकि वह इस उसूल का पाबन्द था कि खाना है तो सभी को हिस्सा वक्त से पहुँचाते रहो। समय-समय पर डालियाँ और तोहफे तहायफ़ ऊपर से। यही वजह थी कि उसके शत्रुओं की कभी दाल नहीं गली। वरना उनका बस चलता तो उसकी नौकरी खा लेते।

धनीराम के दिन बड़े सुख-चैन से कट रहे थे। मगर उसके अनुसार एक झक्की किस्म का अधिकारी आ गया जो न खुद खाता था और न किसी को खाने देता था। दुश्मनों ने न जाने क्या कान भरा कि एक दिन बिना बताए आकस्मिक दौरे पर पहुँच गया था। संयोगवश उस समय वह स्टेशन पर नहीं था। उस अधिकारी ने नाराज होकर 'एब्साकांडिंग फ्राम ड्यूटी' की चार्जशीट का हुक्म जारी कर दिया और इस स्टेशन पर जिसे कामर्शियल विभाग के लोग काला पानी समझते थे, भेज दिया। बड़ी दौड़ धूप की उसने। हर हरबा हथियार इस्तेमाल किया किन्तु असफल रहा।

उस छोटे से स्टेशन पर सुबह-शाम मात्र दो जोड़ी अप-डाउन पैसेंजर गाड़ियाँ रुकती थीं। यात्रियों में ज्यादातर एम.एस.टी. होल्डर 'डेली पैसेंजर' थे या फिर कस्बे के लोग जो दवा दारू अथवा कोर्ट कचहरी के लिए सुबह को निकलते और शाम को लौट आते। पार्सल, ट्रैफिक का काम भी कोई विशेष नहीं था किन्तु आम का सीज़न होने के नाते पार्सल-बुकिंग अच्छी थी। उसी से थोड़ी-बहुत कमाई हो जाती। अचानक आय में कमी आ जाने के नाते वह चिन्तित था और जल्द से जल्द किसी अच्छे स्टेशन पर पहुँचने के जुगाड़ में लगा था। था तो वह एक सीनियर कामर्शियल-क्लर्क, मगर वहाँ वही स्टेशन मास्टर, टिकट-बाबू, पार्सल बाबू, गोया पीर, भिश्ती, बावर्ची सब था। सहयोगी या मातहत के नाम पर एक अदद स्वीपर था जो झाड़ू लगाने, सफाई पोछा के साथ रिकार्ड लिफ्टर, दफ्तरी, लाइनमैन और पोर्टर की भी ड्यूटी करता था।

आम, महुआ, जामुन और कटहल के पेड़ों, बबूल, सरकन्डों और जंगली झाड़ियों से ढका, सतह से कोई चार-पाँच फिट ऊँचाई पर बना लम्बा सा सिमेन्टेड प्लेटफार्म। दोनों किनारों पर चापाकल, जो अक्सर खराब रहता था। यात्रियों की सुविधा के लिए 'पुरुष' 'स्त्री' के लिए अलग-अलग शौचालय की सुविधा थी जो ज्यादातर ग्रामवासियों के इस्तेमाल में रहता था। स्टेशन बिल्डिंग के नाम पर प्लेटफार्म के मध्य में एक बड़ा सा कमरा जिसमें खिड़की से सटा टिकट-ट्यूब, एक अदद ऊँची सी काठ की कुर्सी, तौल-मशीन, लिखने-पढ़ने के लिए एक लम्बी सी मेज जिस पर काफी मैल जमी हुई थी। दीवार में बने रैक और फर्श पर जा-बजा पार्सल पैकेजेज बिखरे पड़े रहते। उस कमरे के पीछे एक छोटी सी कोठरी थी जिसमें पुराने रेकार्ड्स, लकड़ी का एक बड़ा-सा बक्स और एक स्टील की आलमारी रखी थी जिसमें छपे हुए टिकट और पेपर टिकट की पुस्तकें भरी हुई थीं। उन पुस्तकों में अधिकांश बहुत पुरानी थीं जिनका अब कोई इस्तमाल नहीं था। अधिकारियों से आदेश लेकर उसे जलवाने या नष्ट करने की किसी को चिन्ता नहीं थी। जो भी वहाँ आता जल्द से जल्द ट्रांसफर करा के किसी अच्छे स्टेशन पर निकल जाता।

प्लेटफार्म के सामने, आम और जामुन के तनावर पेड़ों के बीच रेल की पटरियाँ बिछी हुई थीं और पीछे ढलान पार करने पर ऊँचे-ऊँचे पेड़ों और झाड़ियों के बीच तीन क्वार्टर बने हुए थे जिसमें से एक धनीराम का था, दूसरा स्वीपर का और तीसरा खाली पड़ा था। चारों तरफ दूर तक फैले हुए हरे-भरे धान, गन्ना और पिपरमिन्ट के खेत थे जिसमें फसले लहलहा रही थीं। स्टेशन के निकट स्थाई रूप से रहने वाले यहाँ दो लोग थे। वैसे पटरियाँ बनाने वाले मजदूर, मिस्त्री, गैंगमैन और कभी-कभी पी. डब्ल्यू. आई. के साथ में ट्रालीमैन भी रुक जाते थे जिससे वहाँ चहल-पहल बढ़ जाती वर्ना आम के घने बागान से घिरा वह इलाका रात में किसी जंगल सा भयावह लगता।

कुल चार महीनों में ही धनीराम ने इस इलाके का भूगोल, इतिहास सब जान लिया था। उसे पता था कि स्टेशन के पूरब वाले बाग में एक भट्ठी है जहाँ महुए की बढ़िया शराब तैयार की जाती है। अंग्रेजी शराब के लिए भी कहीं दूर जाने की जरूरत नहीं थी। दस-पाँच एक्स्ट्रा देने पर मनचाही चीज वे घर पर पहुँचा देते।

सुबह सवेरे से बारिश का सिलसिला शुरू हुआ जो दिन भर जारी रहा। बारिश के थमते ही तेज हवा के साथ बादल फट कर बिखर गए और चटख धूप निकल आई थी। जो पल-पल रूप बदल रही थी। जा-बजा बादलों के पर जमे हुए थे और धूप-छाँव का खेल जारी था। शाम वाली अप पैसेंजर के डेढ़ घंटा लेट से आने की सूचना थी। इसलिए कोई जल्दी नहीं थी। धनीराम ने घड़ी देखी। पाँच बजे हुए थे। चरबजवा गाड़ी के आने

में आधा घंटा शेष था। घंटी बजने और टिकट बेचने के लिए उसने ईदू को स्टेशन भेज दिया और खुद तैयारी में जुट गया।

वह स्टेशन पर पहुँचा तो ट्रेन यात्रियों को उतार कर आहिस्ता-आहिस्ता प्लेटफार्म पर रेंग रही थी। ईदू टिकट की खिड़की और कमरे का बाहरी दरवाजा बंद करके गार्ड से पार्सल पैकेज प्राप्त करने गया था और अब ठेला ढकेलते हुए उसी तरफ आ रहा है। 'इसे ठीक से रख कर चालान को डिलीवरी बुक में रख दो। तब तक मैं जरा यात्रियों से टिकट वसूल कर लूँ।' ईदू को निर्देश देकर वह गेट की ओर बढ़ गया। दिन भर पड़े-पड़े और सोते रहने और बारिश की चिपचिपाहट के नाते उसे कुछ आलस सी महसूस हो रही थी। अधिकारियों की ओर से टिकट कलक्शन के लिए कई बार मौखिक और लिखित तौर पर उसे टोका जा चुका था।अकेला आदमी। ट्रेन पासिंग, टिकट बाँटना, लेखा पस्तकों का भरना, कैश बैग सील करना और दौड़ कर गार्ड के पास रखे 'कैश-सेफ' में उसे डालना, पार्सल बुक करना, लोड करना... और प्राप्त पार्सलों की डिलिवरी देना यह तो रोज का काम था। आए दिन अधिकारियों के निरीक्षण, फिर दुनिया भर के स्टेटमेन्ट्स और रिटर्न की तैयारी ऊपर से। टिकट संग्रह का काम वह कब और कैसे करे? उसके पास जवाब तो बहुत था, लेकिन सुनता कौन है? उसने खुद को सांत्वना दी।

लम्बे-लम्बे डग भरता हुआ वह गेट के सामने जाकर खड़ा हो गया। ज्यादातर यात्री गेट से निकलने के बजाय अगल-बगल से उतर कर खेतों के बीच फैली पगडंडियाँ पकड़ कर काफी दूर निकल गए थे। गेट से निकलने वालों की संख्या बहुत कम थी। सात-आठ टिकट मिल गए थे। वह वहाँ से चलने की सोच रहा था कि उसकी नजर सामने से आते हुए नौजवान जोड़े पर पड़ी। एकटक वह उनकी ओर देखता रह गया। युवती की तरह ही युवक भी काफी सुन्दर और आकर्षक था। लम्बा छरहरा शरीर, चौड़ी छाती। उठी हुई नाक और खूबसूरती से तराशी हुई स्याह दाढ़ी। गाढ़े रंग की चेकदार तहबन्द, रेशमी कुर्ता, काली जाकेट, गले में सोने से मढ़ा तावीज और कान में बड़े-बड़े सुनहरे बाले। उसके पीछे तीखे नाक-नक्शों वाली युवती खड़ी थी। गोरा-चिट्टा रंग, सुतवां नाक, बड़ी-बड़ी स्याह आँखें, लम्बी गर्दन, सुडौल जिस्म। वह गले में सोने का गुलूबन्द, चाँदी का चनरहार, कलाइयों में सोने के कड़े, उंगलियों में अंगूठियाँ और पैर में चाँदी के वजनी पाज़ेब पहने हुए थी। डूबते सूरज की रोशनी में उसके चेहरे और जेवरात से किरन-सी फूट रही थी। अपने ईद-गिर्द से बेखबर धनीराम अपलक उन्हें देखता रहा। इतनी सुन्दर जोड़ी उसने देखी नहीं थी। युवक ने अपनी जाकेट की जेब से निकाल कर दो टिकट उसकी ओर बढ़ाया तो वह चौंक पड़ा। टिकट लेते हुए उसने पूछ लिया— 'कहाँ जाना है?'

'नसीबगंज'। यात्रियों से अनावश्यक बातें करना उसकी आदत नहीं थी पर अनायास उसके मुँह से निकल गया 'नसीबगंज' वह तो चार कोस दूर है। सूरज डूब रहा है। अंधेरी रात और ऊपर से उमड़ते बादल' उसने आसमान की ओर देखते हुए कहा— 'रास्ता बहुत खराब है। पिछले दिनों यात्रियों को लूटने और जान से मार डालने की खबर पढ़ी होगी।' धनीराम ने चिन्ता जताई।

'हम पहुँचा देते हैं बड़े बाबू। आप फिकर न करें।' थोड़ी दूर पर खड़े तीन नौजवानों में एक ने पास आकर कहा। धनीराम ने उनकी ओर देखा। वह उन सभी को पहचानता था। उनका अधिकांश समय स्टेशनपर ही कटता था। चोरी, चकारी, ठगी और अफीम की स्मगलिंग उनका पेशा था। जिस तरह के खतरे के बारे में वह सोच रहा था, वह बला, सामने खड़ी थी। उसने डपटते हुए कहा, 'तुम क्यों पहुँचा दोगे? क्या इन लोगों को जानते हो?'

—परदेसी लोग हैं। हमारी जाति बिरादरी के हैं इसलिए हमारा फर्ज बनता है।

—तुम्हारा फर्ज और तुम्हारी असली बिरादरी को मैं अच्छी तरह जानता हूँ। बिना टिकट तुम प्लेटफार्म पर कैसे आ गए?

धनीराम की तेज आवाज सुन कर ईदू और कई लोग वहाँ पहुँच गए।

—खड़े-खड़े मेरा मुँह क्या देख रहे हो? भागते हो यहाँ से या पुलिस के हवाले कर दूँ। चौकी यहाँ से ज्यादा दूर नहीं है। धनीराम की चढ़ी हुई त्योरीऔर गुस्सा देख कर वे तीनों खिसक लिए।

उनके जाने के बाद वह युवक से मुखातिक हुआ, 'यह सब बहुत कमीने लोग हैं। आप लोगों को लूटने के लिए पीछे लग गए। यही इनका धन्धा है। इतना सारा जेवर गहना पहन कर नहीं चलना चाहिए। कहाँ से आ रहे हैं?'

—जी हम लोग नेपालगंज रोड से आ रहे हैं। मौसी के लड़के की कल शादी है। सोचा था शाम तक पहुँच जाएंगे। मगर गाड़ी लेट हो गई। वह दोनों काफी भयाक्रान्त लग रहे थे। धनीराम स्वभावत: काफी रहम-दिल था। खतरे की बू महसूस करने के बाद वह खुद को असंपृक्त नहीं रख सका।' मेरे खयाल से अब आप लोगों का जाना मुनासिब नहीं है। यहाँ नजदीक में और कोई जगह नहीं है जहाँ रात गुजार सकें। अगर आप लोग चाहें तो मेरी दालान में रह सकते हैं।

एहसानमंद नज़रों से उन दोनों ने धनीराम की ओर देखा और सामान उठाए हुए उसके पीछे चल पड़े।

प्लेटफार्म से उतर कर वे ढलान में आ गए। कुछ दूर चलने के बाद चारों ओर से घिरे ऊँचे-ऊँचे पेड़ों और झाड़ियों के बीच एक क्वार्टर के सामने पहुँच कर वे रुक गए। 'यही मेरा क्वार्टर है।' सामने टीन शेड की दालान में पड़े हुए तख्त की ओर इशारा करके बोला, 'आप लोग इस तख्त पर आराम करें। बिछाने के लिए मेरे पास कुछ नहीं है। ओढ़ने के लिए चादर का इंतजाम हो जाएगा।'

—नहीं नहीं, काम चल जाएगा। आपका बहुत एहसान है भाई साहब। आपने हमें बर्बाद होने से बचा लिया। औरत साथ में न होती तो उन तीनों के लिए मैं काफी था। इस गाड़ी से चल कर मैंने बड़ी गलती की। मुझे सवेरे वाली गाड़ी से चलना चाहिए था। उसकी घबराहट और झिझक धीरे-धीरे खतम हो गई थी और अब काफी आश्वस्त दिख रहा था। अपनी छोटी-सी अटैची और बैग तख्त पर रखते हुए वे पैर लटका कर बैठ गए।

रात उतर आई थी। ऊँचे-ऊँचे दरख्तों के बीच अंधेरा और घना लग रहा था। वे दोनों तख्त के एक कोने में सिमट कर बैठे मन ही मन अल्लाह का शुक्र अदा कर रहे थे जिसने एक नेकदिल आदमी की मार्फत उसकी पनाह का इन्तजाम कर दिया था।

थोड़ी देर बाद धनीराम जलती हुई लालटेन लिए हुए बाहर आ गया और दीवार में लगी खूँटी पर लटका दिया। अंधेरी दालान में उजाला फैल गया। महिला ने सीने पर ढुलका हुआ आंचल दुरुस्त किया और सिमट कर बैठ गई। धनीराम जाने के लिए मुड़ा और फिर कुछ सोचते हुए तख्त के एक कोने पर जाकर बैठ गया। सकुचाते हुए बोला, 'स्टोव में तेल खत्म हो गया है। घर पर बनाता तो आप लोगों का भी खाना बन जाता। इस वक्त मेरा खाना ईदू के घर से आएगा। वह अपने क्वार्टर पर गया हुआ है। आ रहा होगा। उसी से कहते हैं आप लोगों का भी'...'नहीं भाई साहब, हमारी चिन्ता छोड़ें। एक वक्त की ही तो बात है।' अपने दरवाजे पर किसी के भूखा सोने की बात सोच कर उसे अपने आप से शर्मिन्दगी सी महसूस हुई। भले ही वे उसके लिए अजनबी थे किन्तु इस समय उसकी दृष्टि में उनका महत्त्व

किसी मेहमान से कम नहीं था। कुछ सोच कर वह उठा और अन्दर चला गया। एक तश्तरी में चीनी और पानी का लोटा रखते हुए बोला, 'आप लोगों को प्यास लगी होगी। पहले पानी पिएं। कुछ इंतजाम तो होगा ही।' तभी ईदू आता हुआ दिखाई पड़ा। उसे लिए हुए वह अन्दर चला गया। थोड़ी देर बाद वह आकर उनके पास बैठ गया। ईदू ने एक थाली में आटा, उपले, पानी से भरी बाल्टी, लोटा, थोड़ा आलू, पिसा हुआ नमक, मिर्चा और लहसुन लाकर उनके सामने रख दिया। उन दोनों ने कृतज्ञतापूर्वक उसकी ओर देखा और गर्दन झुका ली। युवक के होंठ हिल उठे, 'हमारी वजह से आपको बड़ी तकलीफ....'

'आप लोग लिट्टी चौखा बना कर खा लें। खा-पीकर इत्मीनान से सोइए। वैसे यहाँ कोई खतरा नहीं है फिर भी जरा चौकस रहिएगा' कहने को तो धनीराम कह गया लेकिन उन सभों की तरफ से वह खुद भी मुतमईन नहीं था। 'सोआ-मुआ एक। उनका क्या भरोसा।'

'भाई साहब! एक लाठी हो तो दे दें। रात बिरात कोई जरूरत पड़ जाए तो..'

धनीराम ने सुन रखा था बंजारे बड़ी अच्छी बिनवट जानते हैं।उसने पूछा 'तुम्हें बिनवट आती है?'

'थोड़ी-थोड़ी।'

'ठीक है अभी ईदू से भिजवा देता हूँ।' कहते हुए वह अन्दर चला गया। दिन में जो मिलता खा लेता लेकिन रात में मीट मछली के बगैर धनीराम का काम नहीं चलता था। बारिश की वजह से ईदू बाजार नहीं जा सका था। उसकी पत्नी ने मसालेदार कढ़ी बनाने को कहा था। कढ़ी उसे पसंद नहीं थी लेकिन वह उन पर अपनी पसंद नहीं थोप सकता था। मन मारकर वह चुप रहा।

कपड़े बदल कर वह अपनी चारपाई पर पहुँचा तो अचानक उसे मासिक रिटर्न की याद आई। यह सोच कर कि कल ही रिटर्न भेजने की तारीख है। सवेरे की गाड़ी से कोरियर रिटर्न लेने के लिए सर पर सवार हो जाएगा, वह चिंतित हो उठा। दिन भर वह सोता रहा। याद ही नहीं रहा। लेखा संबंधी पुस्तकें और कामर्शियल रिकार्ड्स एक दिन पहले वह क्वार्टर पर ले आया था। स्टूल खींच कर उसने पास कर लिया और लैम्प की रोशनी में लेखा पुस्तकों पर झुक गया।

धनीराम को काम में व्यस्त देख कर ईदू कमरे के एक कोने में जाकर बैठ गया। कुछ समय गुजारने के बाद वह उसके पास आकर बोला, 'साहब चाय बना दूँ' फिर जैसे खुद से बात कर रहा हो, 'मौसम तो बहुत अच्छा हो गया है। कहिए तो कुछ ले आऊँ।' धनीराम कभी कभार दो एक पेग ले लिया करता था लेकिन जाने क्यों उसकी इच्छा नहीं हुई। झिड़कते हुए बोला, 'देखो खाना तैयार हो तो ले आओ। भूख लगी हुई है। दिन में भी कुछ नहीं खाया था।'

ईदू के बाहर जाने के बाद उसने दालान में खुलने वाली खिड़की से बाहर झाँक कर देखा। महिला आटा गूँथ कर लोई काट रही थी और पुरुष मुँह से फूँक मार कर उपलों को दहका रहा था। धुएँ की वजह से उसकी आँखों में पानी आ रहा था जिसे बार-बार वह कुर्ते की आस्तीन से पोंछ रहा था। खिड़की से हट कर वह फिर अपनी चारपाई पर जा बैलेंसशीट की तैयारी में जुट गया।

प्लेटफार्म पर कोई शेड अथवा ठहरने की व्यवस्था न होने के नाते कभी कभी कोई यात्री उससे पूछ कर उसकी दालान में रात बसर कर लेता था। आज कोई नई बात नहीं थी। पर आज की स्थिति भिन्न थी। वे दोनों भी रात गुजारने के लिए वहाँ रुके थे किन्तु वे उसकी पनाह में थे, ऐसा वह महसूस कर रहा था।

धनीराम खना खा चुका था। ईदू ने बर्तन ले जाकर नल के पास चबूतरे पर रख दिया। तौलिये से हाथ पोंछते हुए वह फिर खिड़की के पास जाकर खड़ा हो गया। पुरुष हथेली से लिट्टी पर जमी हुई राख झाड़ कर महिला को थमा रहा था जिसे

वह थाली में रख देती। कुछ देर तक खड़ा वह उन्हें देखता रहा। सब कुछ बहुत आत्मीय और घरेलू लग रहा था। चूड़ियों की खनक, लिट्टी की सोंधी-सोंधी खुशबू उसे दूरे वहाँ ले गई। चारपाई पर जाकर वह लेट गया। जाने क्यों उस समय उसे पत्नी की याद बेहद साल रही थी। उसने सोचा बच्चे खा-पीकर सो गए होंगे। वह भी सो गई होगी। हो सकता है जाग रही हो। वह देर तक आँखें मूँदे पड़ा रहा। कुछ लोगों को बिस्तर पर गिरते ही नींद आ जाती है लेकिन धनीराम को बिना कुछ पढ़े नींद नहीं आती थी। हाथ बढ़ा कर उसने मेज पर रखा हुआ उपन्यास उठा लिया।

क्वार्टर के सामने एक साथ बहुत सी आवाजें और शोर सुन कर वह चौंक पड़ा। पुस्तक एक किनारे रख कर वह खड़ा हो गया। खिड़की से बाहर झाँक कर देखा। पच्चीस-तीस लोगों की उत्तेजित भीड़ शोर मचा रही थी और गालियाँ बक रही थी। स्थिति को समझने में उसे जरा भी देर नहीं लगी। बाहर जाने के लिए वह दरवाजे तक पहुँचा ही था कि किसी ने दरवाजे पर लाठी से चोट की। काफिर की औलाद। निकल साले बाहर आ। यहाँ नौकरी करने आया है या मुसलमानों की बहू-बेटियों की इज्जत लूटने। आंत निकाल कर बाहर फेंक दूँगा। एक-एक शब्द धनीराम को लहू-लुहान कर गया। जिस्म का घाव तो थोड़े उपचार के बाद भर जाता है लेकिन यह ऐसा जख़्म था जिसने उसकी आत्मा को तार-तार कर दिया था।

शोर सुन कर ईदू अपने घर से निकल कर धनीराम के क्वार्टर की ओर लपका। भीड़ से निकल कर एक ने गाली बकते हुए उसकी गर्दन पकड़ ली और इतने जोर से धक्का दिया कि वह मुँह के बल गिर पड़ा। यह साला दलाल है। कौम के लिए कलंक है। मारो और मारो।

धनीराम गुस्से से दहक उठा। आत्मसुरक्षा के लिए उसके पास एक कट्टा था लेकिन वह बहादुरी दिखाने का वक्त नहीं था। वह अच्छी तरह जानता था कि वह अकेला उन सबों का मुकाबला नहीं कर पाएगा। उसने सोचा भीड़ दरवाजा तोड़ सकती है। इससे पहले कि वे कोई और हरकत करते, दरवाजा खोलकर वह बाहर आ गया।

उसे देखते ही भीड़ उत्तेजित हो उठी। बाहर निकलते ही उसकी नज़र उन तीन बदमाशों पर पड़ी जो सबसे आगे खड़े लाठियाँ लहरा रहे थे और भीड़ को ललकार रहे थे। नज़र घुमा कर उसने दालान में खड़े उन दोनों की ओर देखा। वे डरे, सहमे एक दूसरे का हाथ थामे दीवार से सट कर खड़े थे। बंजारा युवक ने उन बदमाशों का इरादा भांप लिया था। धनीराम को देखते ही बंजारा युवक ने लाठी उठा ली। शायद वह भीड़ पर टूट पड़ता लेकिन उसने चीख कर मना कर दिया। धनीराम ने भीड़ का फिर से जायजा लिया। उन सभी के चेहरे भयानक हो उठे थे। उनकी आँखों से चिंगारियाँ फूट रही थीं। अजीब सी दीवानगी उन पर तारी थी। सहसा उन बदमाशों में से एक लाठी लहराते हुए उसकी ओर झपटा किंतु उन्हीं के साथ आए एक बूढ़े आदमी ने उसे आगे बढ़ने से रोक दिया। धनीराम ने कृतज्ञतापूर्वक उस बुजुर्ग आदमी की तरफ देखा फिर उसे सम्बोधित करके कहा— 'आप इनसे पूछ लीजिए, क्या मैं इन्हें जबरदस्ती लेकर आया हूँ।'

—'तुम लोग खुद बताओ क्या मैंने तुम्हें यहाँ जबरदस्ती रोक रखा है?'

'नहीं यह झूठ है।' युवक ने चीख कर कहा। 'आपका बहुत एहसान है जो आपने हमें पनाह देकर लूटने से बचा लिया।'

'अबे चुप भड़ुवे की औलाद।' गाली सुनकर नौजवान तड़प उठा। बाजुओं में बिजली सी कौंध गई। शायद झपट कर वह उसकी गर्दन तोड़ देता लेकिन धनीराम बीच में जाकर खड़ा हो गया। भीड़ अनियंत्रित हो रही थी और उस जुनून में वे किसी हद तक जा सकते थे। मौत उसके बिल्कुल सामने खड़ी थी लेकिन वह जरा भी विचलित

नहीं हुआ।

भीड़ से अलग एक किनारे खड़े बूढ़े आदमी के पास जाकर वह बोला, 'आप इन तीनों से पूछिए कि आज शाम को ये स्टेशन पर क्या कर रहे थे। इनका क्या धंधा है, आप लोग जानते हैं। मैंने जब इनकी साजिश को नाकाम कर दिया तो अब मुझ पर यह गन्दी तोहमत लगा रहे हैं।' बूढ़े आदमी ने कुछ कहा नहीं किन्तु दालान की ओर बढ़ती भीड़ को आगे बढ़ने से रोक दिया। नफरत और गुस्से से उन सबों ने बूढ़े को देखा और दालान के सामने तक जाकर खड़े हो गए। वह फिर उस बूढ़े आदमी से मुखातिब हुआ, 'आप इन्हें अपने साथ ले जाएं। इंसानियत के नाते परदेसी समझ कर इन लुटेरों से निजात दिलाने के लिए मैंने इन्हें अपने यहाँ जगह दे दी। मैंने गलती की कि यह काम करने से पहले मैंने इनका धर्म नहीं पूछा' व्यंग्य का तीखापन महसूस करके उस बुजुर्ग आदमी की गर्दन झुक गई। क्षण भर की चुप्पी के बाद उसने उन दोनों को सम्बोधित करके कहा, 'उठाइये अपना सामान और इन लोगों के साथ जाइए।' वे दोनों टस से मस नहीं हुए।

'तुम्हारे अपने भाई-बिरादर तुम्हें लेने आए हैं। मेरा मुँह क्या देख रहे हो। जाओ। जाते क्यों नहीं।' कहते हुए उसका दर्द उसके चेहरे पर उभर आया और गुस्से से थर-थर काँपने लगा।

—'नहीं हम कहीं नहीं जाएंगे। हमें मत भगाए।'

'मारो। मारो साले को। यही मर्द होता तो...' भीड़ से फिर कई आवाजें उभरी।

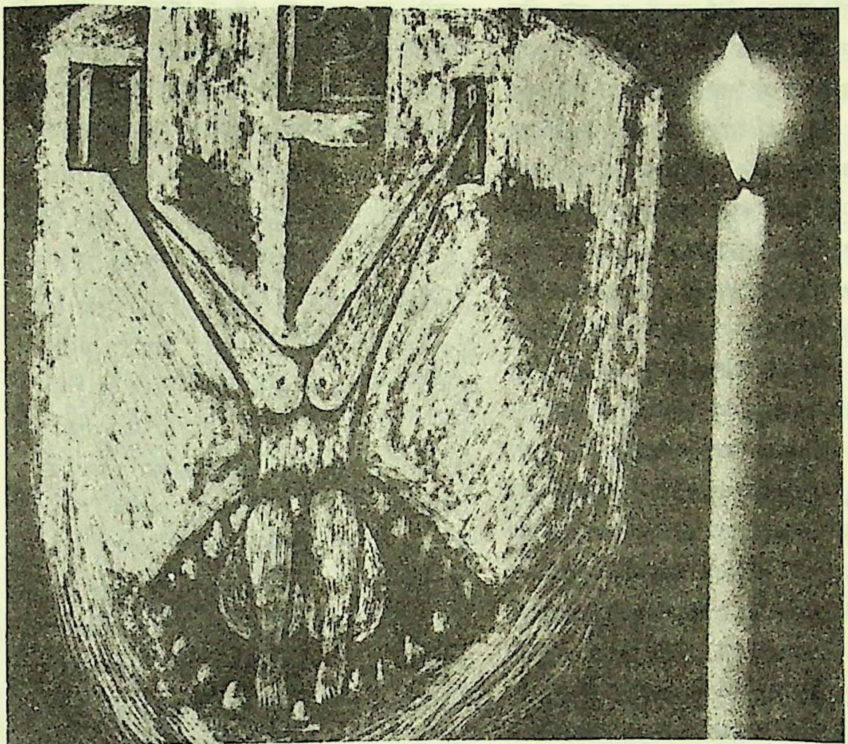
'मैं कहता हूँ जाओ। यहाँ से चले जाओ। जाते क्यों नहीं। अपना सामान उठाओ और निकल जाओ' धनीराम चीख पड़ा। देर तक उसकी चीख उस वीराने में गूँजती रही।

सफेद दाढ़ी वाले उस बुजुर्ग आदमी की समझ में आ गया था कि असल माजरा क्या है। उसने धनीराम की ओर देखा और चुप रहा। उसने युवक और युवती को अपने साथ लिया और भीड़ को लौटने का इशारा करके चल पड़ा। 'इस बूढ़े खुर्राट ने सब चौपट कर दिया। यह साला कहां से टपक पड़ा।' लाठियाँ पटकते, गालियाँ बकते हुए भीड़ पीछे-पीछे चल पड़ी। उन सभी के घेरे में जाते हुए उन दोनों ने किसी घायल परिन्दे की तरह उसकी ओर देखा जिसमें शिकायत, मजबूरी और बेबसी झलक रही थी।

उन सब के जाने के बाद भी वह वहीं खड़ा रहा। माहौल पर अजीब सी खामोशी फैली हुई थी। उस सन्नाटे को झींगुरों की झांय-झांय और मेढकों की टरटराहट भी नहीं तोड़ पा रही थी। अपने कमरे में जाने के बजाय वह तख्त पर जाकर बैठ गया। तनी हुई लाठियों, उन सबों का बार-बार झपटना। ईदू का मुँह के बल जमीन पर गिरना, गालियों का शोर, कसाइयों के बीच डरी-सहमी गाय की तरह उन दोनों का उसकी ओर देखना, सारा दृश्य उसके दिमाग में 'फ्रीज' हो गया था। गुमसुम बैठा वह देर तक अंधेरे को घूरता रहा। ईदू की मौजूदगी का भी उसे एहसास नहीं रहा। उसके खांसने की आवाज़ पर वह चौंक पड़ा। लालटेन की पीली रोशनी में वह कोना जो कुछ देर पहले भरा-पुरा था, वहाँ अब अजीब मनहूसियत सी बरस रही थी। बुझे हुए उपलों की राख, थाली में रखी लिट्टी, आलू का चोखा उसकी आँखों में तीर की तरह चुभ रहे थे। ईदू की ओर देख कर वह बोला, 'बाल्टी लोटा और थाली घर में रख दो और यह सब तुम उठा कर ले जाओ। तुम्हारे बच्चे खा लेंगे।'

एक भूचाल सा आया हुआ था जो कितने ही तनावर दरख्तों को जड़ से उखाड़ता चला गया। कमरे में पहुँच कर कुछ देर तक वह खिड़की के सामने खड़ा अंधेरे को घूरता रहा फिर किसी कटे हुए पेड़ की तरह बिस्तर पर ढेर हो गया। ❑

कहानी



इन्दु बाली

बाढ़

आज प्रात: से ही विद्युत बेहद व्यस्त थी। बहुत से निकट संबंधी आए हुए थे और आज उसका भाई भी आने वाला था। अपने भाई को वह बहुत प्यार करती थी। चार बहनों का एक भाई, बस व्यस्तता के होते हुए भी वह खुश थी। उसके पाँव जमीन पर नहीं थे, जैसे आसपास में कहीं दूर पक्षियों की तरह उड़ती चली जा रही थी। वह जल्दी-जल्दी सब काम निपटा लेना चाहती थी, खाना भी तैयार कर लेना चाहती थी ताकि उसका भाई उसे इन मैले कुचैले कपड़ों में नौकरों की तरह काम करते न देख ले। विद्युत का भाई भी अपनी इस बहन से सबसे अधिक जुड़ा था। जीजा बड़ा इंजीनियर है और विद्युत रानियों की तरह राज कर रही होगी, ऐसा ही कुछ वह लिखता और सोचता था। विद्युत की पूरी चेष्टा होती कि उसके मायके का यह भ्रम बना रहे। अपने ससुराल में होनेवाली नारकीय यातनाओं, अपमानों, स्त्रार्थी, लालची मांगों को उसने कभी पता नहीं लगने दिया। सब अपने अंदर की तरफ ही मोड़ देती थी और बाहर एक कृत्रिम हँसी बिखेरती रहती थी क्योंकि वह जानती थी उसका पति उसका नहीं, अपनी माँ का बेटा है। मायके में माँ-बाप थे नहीं। ले-देकर एक भाई था जिम्मेदारियों में दबा, चार-चार बहनों का भाई और वह भी भारत में? फिर उसका अपना परिवार भी था। विद्युत अपनी भाभी को लेकर बड़ी खुश और संतुष्ट थी जो उसे माँ का प्यार और भाभी के प्यार के साथ एक मित्र का प्यार भी देती थी। सारे घर का वातावरण खुशियों से महकता रहता था और भाई को अपनी जिम्मेदारियाँ निभाने में कोई कष्ट नहीं था बल्कि उससे भी अधिक सहारा देने वाली पत्नी थी जिस पर सबको गर्व था। कहीं कोई कृत्रिमता नहीं।

विद्युत का मन कभी-कभी घुटन महसूस करता और उसे लगता जैसे शादी हुए युग बीत गया है। समय है कि बढ़ता ही जाता है। शादी के इन चार सालों में न जाने कितने युग और छुपे हैं जो अपनी करामात करते रहते हैं। विद्युत का लगता है आरंभ में ही अंत की प्रतीक्षा करना कितना भयंकर होता है। इतना लंबा युग उसने जी लिया, कैसे जी लिया। क्या-क्या घटित हुआ और क्या-क्या उसने सहा। उसका अपने अंदर का युग और बाहर का युग दोनों में टकराहट होती रहती है, बिलकुल वैसे ही जैसे महाभारत के युग में होता था लेकिन पांडवों के साथ महारथी थे तभी तो इतना भयंकर युद्ध और उसका परिणाम पांडव सह गए। पर विद्युत बिलकुल अकेली है, कोई उसके पक्ष में नहीं। हाँ, उसका भाई, उसकी भाभी उसके पक्ष में हैं पर वह तो कुछ भी नहीं जानते न आदि न अंत, न युगों की लंबाई। विद्युत का जीवन और उसका इतिहास बस उसके अंदर है जो 'टाइम कैप्सूल' की तरह पता नहीं कब बाहर निकलेगा, कौन निकालेगा और फिर होगी सत्य असत्य की परख। नारी होने का इतना बड़ा दंड? पर क्यों? विद्युत के पास इसका भी कोई उत्तर नहीं है। नारी के व्यक्तित्व और अस्मिता को लेकर क्या तोड़ा-फोड़ा गया है, कितनी कुरूपता भर दी गई है, फिर धरती सम कौंधते से पुरुष और समाज के कदम जाने कौन सा इतिहास लिखेंगे। वह कौन सा युग होगा। शायद सतयुग, द्वापर, त्रेता और कलियुग से भी अलग, अपनी नई मान्यताओं और परिभाषाओं के साथ पर नारी कहाँ होगी, क्या होगी उसकी परिभाषा? इसमें से किसी बात का उत्तर विद्युत के पास नहीं था पर वह अपने अंतर्मन के इतिहास की हर डोरी को लेकर जागरूक थी। इस रस्सी को कितनी ढील देनी है, किसे कितना खींचना है और किस भावना रूपी रस्सी को केवल मात्र पकड़े रहना है। वह जानती थी डूबते को तिनके का सहारा भी काफी होता है, टिमटिमाते दीप का प्रकाश अंधेरे को चीर देता है फिर वह अपनी हिम्मत से जी भी न पाएगा? अंदर और बाहर के इतिहास में तालमेल बैठाती विद्युत जल्दी-जल्दी कपड़े धो रही थी। खाना तैयार हो गया था। भाई का कमरा भी साफ-सुथरा कर दिया था।

विद्युत का तीन साल का बेटा अंकुर बाहर छत पर खेल रहा था। बार-बार रेलिंग की ओर जाता था क्योंकि नीचे दादी और बुआ उसे बुला-बुलाकर खेल रही थी। अंकुर आखिर बच्चा है, रेलिंग के ऊपर से नीचे झाँकने लगे तो गिर भी सकता है। कपड़े धोने में उसका मन नहीं लग रहा था, वह बार-बार बाहर आकर उसे रोकती, समझाती बेटा! ऐसा न करो गिर जाओगे। पर बच्चा तो बच्चा ही है उसे इस खेल में आनन्द आ रहा था। विद्युत ने अपनी ननद को पुकार कर कहा— 'इसे अपने पास नीचे ले जाओ, फिर खेलो नहीं तो गिर जाएगा।' पर ननद ने जरा भी ध्यान नहीं दिया। विद्युत के पास समय बहुत ही कम था और ढेरों काम सामने पड़े थे। बार-बार कपड़े धोते हुए उठना उसे परेशान कर रहा था। विद्युत अपने पति के पास जाकर बोली थी— 'आप जरा अंकुर को देख लें, मैं जल्दी अपना काम निपटा लूँ, भैया आने वाले हैं। बस कुछ घंटों के लिए आने वाले अपने भाई को लेकर वह काफी परेशान थी इसी कारण सब निपटा लेना चाहती थी। उसे डर था उसका स्नेही भाई कहीं उसके अंदर लिखे जाने वाले इतिहास का कोई पन्ना पढ़ न ले। पर विद्युत का पति मौन अपनी किताब पढ़ता रहा— 'अरे! कुछ नहीं होता, खेलने दो उसे।' विद्युत ने अपने पति को छूकर कहा 'सुनो। बच्चा है, मुझे डर लग रहा है। आप या तो उसे माँ के पास छोड़ आएँ, या अपने पास अंदर लाकर किसी खेल में व्यस्त कर दें।' फिर थोड़ा रुककर बोली थी— 'कम से कम उनसे इतना तो कह दो नीचे से आवाजें न लगाएं' पर उसका पति नहीं उठा।

वह ऐसा कुछ भी नहीं करना चाहता था जिसका माँ बुरा मान जाती। न वह उसे नीचे छोड़ने गया न माँ को, बहन को मना कर पाया और न ही अंदर लाकर किसी खेल में व्यस्त कर सका। सोचा दादी-पोता है, बुआ-भतीजा खेल रहे हैं, खेलने दो, क्यों उनके आनंद में भंग डाला जाए। पर विद्युत परेशान थी, उसे बाहर आकर एक थप्पड़ कस कर अंकुर के मुँह पर मारा— 'मना कर रही हूँ, मानता ही नहीं, गिर जाएगा।' बस यह कह उसे बाथरूम में ले आई। कुछ पल तो वह पानी से खेला, माँ के साथ कपड़े धोए और फिर नहाया, बस इतने में उसका मन भर गया और बाहर जाने के लिए जिद करने लगा, जोर-जोर से रोने लगा। थक कर विद्युत ने उसे बाहर निकाल दिया और अपने पति से बोली— 'जरा ध्यान रखें, मैं बस दो मिनट में नहा कर आती हूँ। उसका पति पहले की तरह ही किताब पढ़ता रहा और अंकुर बाहर निकल गया, अपनी दादी से मनपसंद खेल खेलने। तभी एक भयंकर आवाज आई।'धड़ाम' और अंकुर दादी और बुआ के सामने पक्के फर्श पर ऊँचाई से गिर पड़ा। उसका नन्हा सिर तरबूज की तरह फट गया था। खून से लथपथ वह दोनों हाथ उठाकर बोला था 'माँ' दूसरे पल सब शांत हो गया था।

विद्युत को कुछ भी मालूम नहीं था। नल की आवाज में वह कोई पुकार भी सुन नहीं पाई थी। युगों के बीच के युग बाहर निकल आए थे। चारों तरफ तांडव नृत्य का वातावरण बन गया था। सब चीख-चिल्ला रहे थे, तभी उसने बाथरूम के दरवाजे पर खटखट की आवाज सुनी, वह समझी उसका भाई आ गया है और इसी बात की सूचना देने के लिए उसका पति बुला रहा है। विद्युत ने अंदर से ही कहा— 'दो मिनट रुको, बस मैं कपड़े पहन कर आती हूँ, तब तक आप भइया को बिठाओ। ' विद्युत के पति ने और भयंकर रूप से दरवाजा खटखटाया और गालियां बकने लगा। विद्युत को कुछ समझ नहीं आया। वह जैसे थी दरवाजा खोल दिया, कपड़े पहन तो लिए थे पर बटन इत्यादि बंद नहीं कर पाई थी। उसके पति ने गीले बालों से उसे खींच कर बाहर निकाल लिया और बोला 'अब चैन आ गई, भैया के स्वागत की तैयारी हो गई?' 'क्या हुआ?' 'क्या हुआ? अंकुर की हत्यारिन, मार डाला उसे' सीढ़ियों से घसीटता हुआ उसे नीचे ला माँ के सामने पटक दिया। माँ और ननद भी उस पर झपट पड़ीं— 'आखिर मार दिया न अंकुर को? कैसी माँ है, हत्यारिन है। भैय्या का इतना ध्यान बच्चे का जरा भी नहीं। यदि भाई के स्वागत में थोड़ी कमी रह जाती तो क्या था, मुझे पोता तो न खोना पड़ता। कैसा अपशगुन लेकर आया था इसके भाई के आने का संदेश।' बस विद्युत के बाल खैंच-खैंच कर माँ-बेटी दोनों उसे बुरी तरह मारने लगीं। विद्युत को कुछ भी समझने का मौका नहीं मिला। उसका अपना बेटा मर गया, किसने मार दिया? खून से लथपथ बेटे की लाश के पास पिटती विद्युत मौन बैठी, सिर झुकाए मार खा रही थी। उसका पति खूनी आँखों से उसे देख रहा था। तांडव नृत्य और पैरों के नीचे रौंदी जा रही विद्युत। न वह चिल्लाई, न रोई, न बोली, न देखा, बस अंदर बाहर हाहाकार महसूस किया। अंदर के इतिहास के पन्ने तेजी से उड़ने लगे। युग भागने लगे आखिरी युग तक पहुँचने के लिए। विद्युत के सारे तन में हाथों में बेटे का खून लिपट गया था, उसे लगा यह शायद प्रलय का क्षण है। उसकी अपनी कोख उजड़ गई थी, उसकी नारी अस्मिता लूट गई थी, पर अजीब बात थी, इस पल उसे कुछ भी महसूस नहीं हो रहा था। बस भागते युग, पलटता इतिहास और प्रलय का पलावन और अंदर कुछ नया अंकुरित होने लगा था। उसका अंकुर, उसकी अपनी कोख उसके अपने अंदर जा, उसी के इतिहास के युगों के पन्ने पर बैठ गए थे, बाकी सभी नाते-रिश्ते छूट रहे थे।

घर की इस चीख-चिल्लाहट की आवाजों से सारा मोहल्ला इकट्ठा हो गया था। समाजसेवी

संस्थाओं की स्त्रियाँ, उसका भाई भी आ गया था। सभी अपनी-अपनी बातें कह रहे थे। भाई मौन स्तब्ध खड़ा था और पढ़ रहा था अपनी बहन के अंतर्मन के ऐतिहासिक पत्रों को जिसे विद्युत ने पूरे यत्न से, सालों से छुपा रखा था। माँ और ननद रह-रहकर उसे मार और धिक्कार रही थीं। समाज सेविकाओं ने आगे बढ़कर उन्हें रोका और बहुत बुरा-भला कहा पर पति मौन खड़ा रहा। पुलिस भी पहुँच गई थी, बातों, आरोपों और चेतावनियों का भयंकर उत्पात हो रहा था। पति की तरफ से एक भी शब्द सहानुभूति या पक्षधरता का सुनने को नहीं मिला था। बस सुनाई दे रहा था तो यह कि मेरा पोता मार दिया, मेरा भतीजा मार दिया, मेरा बेटा मार दिया। विद्युत सोच नहीं पाई उसका क्या लगता था अंकुर। शायद कुछ भी नहीं क्योंकि नारी का न कोई व्यक्तित्व होता है न संबंध, बस होता है तो धरती-आकाश के मध्य फैला शून्य जहाँ से जो चाहे वैसे गुजर जाए। बीच में से कौन रोक सकता है। कैसा भी उत्पात हो जाए कौन पूछने वाला है। विद्युत को लगा वह जिंदा लाश है जिसे समाज और रिश्तों के कीड़े चाट रहे हैं। अंकुर के शरीर का खून तो लगा था, उसके शरीर पर उसकी कोख का मुख अंदर की जगह बाहर को आ गया था। इस गीलेपन में लगा था जैसे प्रलय का सैलाब उसे अपने में लपेटे रहा है। पूरी नंगी नारी उस सैलाब में डूब-उतरा रही थी।

विद्युत ने भी कभी तारों और चाँद-सूर्य को छूने और मुट्ठी में बंद करने के सपने देखे थे। रंग-बिरंगी तितलियों के पीछे भागी थी पर धरती की महक उसे बस बाँधती रही। वह अपनी परिस्थितियों से जूझती रही,कभी जीती कभी हारी, पर निराश कभी नहीं हुई। अंकुर के जन्म के बाद उसके सोच का स्रोत भी अंदर की तरफ मुड़ गया था और अपनी कोख से जुड़ी अनुभूति तीक्ष्ण तथा तीव्र होकर भी उसी गुफा में समा गई थी। उसकी अंदर की आँखें अपनी कोख के मध्य से ही दूर देखने लगी थीं, अपने भविष्य को, बस अंदर ही उसका एक नन्हा सा संसार बन गया था। उसका भाई उसकी ऊर्जा का स्रोत था। विद्युत जब रौंदी हुई हरी घास, सूखे पेड़, मुर्झाई बेल और किसी लड़की की उदास आँखें देखती तो सबसे पूछती—'यह सब कैसे हुआ?' पर उसे कभी अपने सवाल का उत्तर नहीं मिलता था। वह स्वयं भी इन सवालों में उत्तर नहीं ढूँढ पाई थी। शायद उस समय वह बहुत छोटी थी पर आज उसे हर सवाल का उत्तर मिल गया है। वह सुन्दर गाती थी, माँ कहती—'विद्युत! तुम्हारे स्वरों में दर्द है पर शब्द नहीं, अर्थ नहीं, दुख और दर्द में अंतर होता है। दुख शरीर में व्यापते हैं। दर्द आत्मा में, मन में टीसता है।' पर आज विद्युत को शब्द भी मिल गए हैं अर्थ भी। धरती और आकाश किस धातु के बने हैं, क्षितिज के पार क्या है, चाँद-तारे और सूर्य कितनी दूर हैं, उनकी किरणें कहाँ से आती हैं, बादल क्यों बरसता है, धरती क्यों फटती है? यह भी कि धरती पर जमाए रखने के लिए उसने अपने सपनों का खून क्यों किया? शायद, दुख और दर्द में से दर्द को ही क्यों चुना? पढ़ी-लिखी होने पर भी क्यों सहा? पीड़ा और भटकन ने उसकी झोली भर दी थी, पर कोख का नन्हा सा अंकुर उसे बचा लाया था। शादी के पाँच सालों में पाँच युग बदल गए थे और अंदर बाहर की यात्रा करती विद्युत के पैरों में छाले उभर आए थे, मेहनत करते-करते हाथ सख्त और खुरदुरे हो गए थे, चेहरे पर उमर से पहले ही झुर्रियाँ पड़ गई थीं, बाल सफेद हो गए थे, किसी का प्यार, सहानुभूति और अपनापन न पाकर वह बस पत्थर की मूर्ति नहीं 'रोबोट' बन गई थी क्योंकि सब ने शायद चार युग देखे-सुने होंगे, पर उसने पाँच युग देखे-भोगे थे। चारों तरफ बस शून्य ही शून्य, रिक्तता ही रिक्तता, परायापन ही परायापन, राक्षस ही राक्षस, मानव कोई नहीं। उस पर अंकुर की लाश के पास

बैठे सब लुट जाने पर भी किसी कोने से यह इच्छा जागी थी कि किसी का हाथ उसके कंधे पर हो और बाँहे उसे लपेट कर अपने हृदय से लगा ले। पर कहाँ उसका पति तो कभी पति बना ही नहीं, वह तो मात्र था एक अच्छा बेटा या एक अच्छा भाई। हाँ अंकुर तो केवल मात्र तन की विवश भूख मिटाते-मिटाते आ गया था, फिर, दुख कैसा? सभी समाज सेविकाएं कल आने को कह लौट गई थीं। पुलिस केस लिख लौट गई थी। आस-पड़ोस ने मिलकर अंकुर को दबा दिया था। कहे जाने वाले उसके अपने परिवार के सभी उस हत्यारिन को कोस रहे थे जो अंकुर की माँ थी।

तभी विद्युत के भाई ने आकर उसके कंधे पर हाथ रखा और उसे कस कर हृदय से लगा लिया, पर यह अपेक्षा तो उसे अपने पति से थी। आखिर वह उसका अपना बेटा था। जैसे कह रहा था— 'मैं जो हूँ!' विद्युत के अंदर के मुड़ते पन्नों का इतिहास बुरी तरह फड़फड़ा रहा था। उसे भीतर से बल मिला। वह अचानक उठ कर खड़ी हो गई थी और चण्डी रूप में बोली थी— 'तुम! तुम! तुम सभी दोषी हो। किसी ने मेरे भविष्य को पलटने से न रोका, न संभाला। तुम हत्यारे हो, नपुंसक हो, कायर हो। मैं तो तुम्हारी सेवा में उलझी थी। भाई का क्या स्वागत, पाँच सालों में पहली बार आया, सब नष्ट हो गया। जो मैं नहीं चाहती थी वही हो गया। मेरी कोख क्या पलटी सब नंगा हो गया। चलो।

विद्युत अपने कमरे में गई, चार कपड़े सूटकेस में डाल नीचे आकर आंगन में खड़ी हो गई। फिर धीरे से भाई के पास गई और बोली— 'भैय्या। आखिरी बार थोड़े पैसे देना। मैं अपने जीवन का नया इतिहास लिखना चाहती हूँ। कोख की नई परिभाषा लिखना चाहती हूँ ताकि कलियुग के बाद आए इस पाँचवें युग को नया रूप, नए मूल्य, नए संस्कार, नई अस्मिता और निराला व्यक्तित्व दे सकूँ। ताकि फिर कोई नारी यूँ नंगी न हो। मुझे अब किसी के सहारे की विवशता नहीं है। तुम्हारी भी नहीं।

संकल्प हो गया तो हो गया, कौन रोक सकता है संकल्पों की बाढ़ को, तूफान को, भूचाल को, ज्वालामुखी को, शायद कोई नहीं।

❑

कहानी

विष्णुदेव तिवारी

द्वेष

मुझे सचमुच बहुत दुख हो रहा था उस रोज।

नवीन ऑफिस के किसी काम से पटना चले गए थे और बिट्टू मम्मी के साथ गया तो लौटा नहीं था। मैं अकेली— और झांय-झांय करता बंगला। ऐसे में गनेसी परसाद की बीबी की धुंवाह बातें, जिन्हें मैंने ही धूपबाती दिखाई थी, मुझे दुखी कर गईं। दुख इसका नहीं था कि मैंने उसका दिल दुखा दिया था— मैं किसी का दिल दुखाना नहीं चाहती— पर उसने बात ही कुछ ऐसी की कि मेरा धीरज जवाब दे गया और मैं ईंट का जवाब पत्थर से दे बैठी कि राजाजी हील काछें और रानी कंगन तोड़े और कहे कि....

वह मुँह फुलाए घर में घुस गई थी और मैं भी होंठ काटते वापस। सोचा था कि मिल-बैठकर दो-चार बातें होंगी तो अकेलापन कटेगा पर हुआ यूँ कि अकेलापन काटने लगा।

जब लौटी तो पांच बज रहे थे। बिरिज सिंह फूलों में पानी दे रहा था। उसके साथ उसका भाई खड़ा था जिसे मैंने पहचाना नहीं। मैं काफी जली-भुनी तो थी ही और वह अपने भाई के साथ हंस-हंस कर बतिया रहा था तो मेरे क्रोध का पारा थर्मामीटर तोड़ गया... हरामखोर! बेचारा बिरजू तड़प कर ऐसे रह गया जैसे पोसुआ कुत्ते ने अचानक रोटी के बदले कानी उँगली चबा डाली हो। हाँ, बोला कुछ नहीं। उसका चेहरा जरूर उतर गया था। मैं समझती हूँ, अपने भाई के सामने उसने अपने को अपमानित महसूस किया होगा क्योंकि थोड़ी देर के लिए उसने जमीन की ओर भी देखा था जैसे तुरत-तुरत कोई त्रिशूल वहां से उगेगा। अपने भाई के चेहरे की ओर उसने पूरी आँख से नहीं देखा। उसके भाई को तो शायद सांप सूंघ गया था। उसने जरूर मुझसे ऐसी उम्मीद नहीं की होगी। बिरिज सिंह ने मेरी बड़ाई भी बहुत की होगी उससे। नवीन का भी नाम लिया होगा जरूर कि उसके साहब बहुत अच्छे हैं। कहाँ तो वह आफिस में बाबुओं को चाय पिलाते, फाइलें ढोते, बे-मौसम झिड़कियाँ खाते बुढ़ा रहा होता, कहाँ उनकी मेहरबानी से सुबह-शाम गमलों में पानी डालकर, बच्चे को स्कूल छोड़कर, जरूरत के मुताबिक एकाध कप चाय बनाकर, कुछ सब्जी-वब्जी लाकर और कभी-कभार बिस्तर ठीक कर चैन की नींद लेता है। न चीं-चीं, न पों-पों। आफिस में बाबुओं के नाज-नखरे एक तरफ और घर-परिवार की परेशानियाँ दूसरी तरफ। कहाँ दो पाटों में छटपटाती जिन्दगी, कहाँ रविवार को मजे से टी.वी. पर फिल्म देखना। जरूर उसने यह भी कहा होगा कि मेम साहब अपनी फटी-पुरानी साड़ियाँ तक उसे दे देती हैं और यह भी कि बची ब्रेड

कचरापेटी में डालने की बजाय उसके अंगोछे में डालती हैं और कभी-कभी जब दूध फट जाता है तो उसे फेंकती नहीं, कहती हैं कि फटा दूध पीने से पेट साफ रहता है और उसका गिलास भर देती हैं और शायद यह भी कि उन्होंने जो मच्छरदानी दी है, चाहे कई जगहों से फटी हो, ठीक से सी लेने पर उसमें मच्छर कम ही घुस पाएंगे।

सब्जी कल्हारते उसकी आँखे कड़ाही से हट नहीं रही थीं। मैं कुर्सी डालकर एक फिल्मी पत्रिका पढ़ने लगी। पढ़ तो क्या रही थी, सिर्फ उसके पन्ने उलट-पुलट रही थी। मुझे बिरिज सिंह को हरामखोर कहने का काफी दुःख था। उसे भी बहुत दुःख रहा होगा, तभी तो वह कुछ बोल नहीं रहा था। उसे दुःख नहीं हुआ होता तो जरूर वह सदा की तरह अपनी बीवी या अपनी जवान होती बेटियों की बात करता। या फिर अपने स्वर्गवासी बाप या अपनी बहरी माँ की बात ही ले बैठता।

कुछ देर तक तो मैं चुप ही रही। चुप रहना बड़ा अखर रहा था। नवीन उसी दिन टूर पर गए थे और कहा था कि कुछ दिन लग सकते हैं। दिन चुपचाप निकल जाए— कितने दुख की बात थी। मगर सबसे दुख देनेवाली बात तो गनेसी परसाद की बीवी की बात थी। और दुःख को मैं चुपचाप होठों में कैदकर नहीं रख सकती थी, सो बोल पड़ी— बिरजू, साहब कब तक आने को कह गए हैं?

— मुझको तो नहीं बताया मेम साब। उसने गैस सिलिन्डर बंद करते हुए कहा।

— चार-पाँच दिन लग जाएंगे क्या?

— मैं क्या कह सकता हूँ?

उसकी बात पर मेरा दुःख और बढ़ गया। आखिर वह हमारा नौकर है। सरकार भले ही उसकी तनख्वाह भरती हो, पर पेमेंट तो हमीं करते हैं। उसे अपने साहब के बारे में तो जानना ही चाहिए कि वे कहाँ-कहाँ जाएंगे; कब लौटेंगे? मैंने पत्रिका बंद कर दी। मुख पृष्ठ पर राजेश खन्ना की फोटो बड़ी जानदार थी। अब तो वह बूढ़ा हो चला है और मोटा भी हो गया है। जब 'कटी पतंग' रिलीज हुई थी, तब क्या स्मार्ट था।— मैंने सोचा।

मैंने बिरिज सिंह से पूछा कि उसे राजेश खन्ना कैसा लगता है। सोचा था, बिरजू कुछ-न-कुछ कहेगा और बात आगे बढ़ेगी तो मेरा दुःख भी कम होगा— किन्तु उसका कहना मेरी समझ को भरमा गया। उसने कहा था— मेम साब, मैं तो फिलम भर देख लेता हूँ। रोजश खन्ना, मुकेश खन्ना से मुझे क्या लेना? कमाल करते हो— मैं गुसिआई— राजेश के बारे में तो कम से कम ऐसा मत कहो।

— क्यों? उसने आँखें तरेरी।

— वह महान है। भारत का पहला सुपर स्टार।

— अमेरिका के सुपर-301 से भी महान क्या?

मुझे आश्चर्य हुआ कि वह अमेरिका के सुपर 301 की बात तो कर रहा था, पर हिन्दुस्तानी सुपर-स्टार को नहीं जानता था। कितने दुःख की बात थी। मैंने झिड़का—

— तुम्हें सुपर 301 की बात नहीं करनी चाहिए।

— क्यों मेम साब?

— यह तुम्हारी बात नहीं है।

— तो राजेश खन्ना भी हमारी बात नहीं है।

— क्यों नहीं है? वह सुपर-स्टार तो है ही, हमारी संसद का मेम्बर भी है।

— तो फिर हमारी संसद की भी बात हमारी बात नहीं है।

मैंने फिर 'क्यों' नहीं कहा। परन्तु मेरा मूड उखड़ चुका था।

मुझे चाय पीने की इच्छा हुई। फिर मैंने सोचा, चाय से तो क्या टेंशन खत्म होगा। पड़ोस में किसी के यहाँ चलते हैं, मगर पड़ोस का खयाल आते ही गनेसी परसाद की बीवी का खयाल आ

गया और मेरा शरीर गनगना गया जैसे अनजाने में पैर किसी अनचाही चीज पर पड़ गया हो।

पर खयाल आ गया तो आ गया, उससे जल्दी पिंड छुड़ाना आसान नहीं। गनेसी प्रसाद की बीवी के बारे में आम खयाल यह है कि वह सबके सुख-दु:ख में अंटती है। मुझे लगा, लोग यूँ ही हाँकते हैं, मुझे तो गनेसी परसाद की बीबी बड़ी तंगदिल औरत जान पड़ी। जाने पर उसने चाय पिलाई थी.... यह कोई नई बात नहीं। हम पता नहीं कितने लोगों को चाय पिलाते हैं। हाँ यह अलग बात है कि चाय उसने खुद बनाई थी और खुद ही दी थी। लेकिन करती भी क्या? उसकी औकात कहाँ जो हम-सा नौकर रखे। गनेसी परसाद स्वयं होटलों में बरतन मांजता है तो उसकी बीवी का चूल्हा कौन फूंकेगा? यह तो दुखी होने वाली बात नहीं थी, खुशी की बात थी। लेकिन मेरी परेशानी दूसरी थी, लोगों ने अफवाह उड़ा दी कि उसके बेटे को नौकरी मिल गई है। यह भी कोई दुख की बात नहीं थी। दुख की बात तो यह थी कि वह आई.ए.एस. हो रहा था। वैसे पेपर में मैंने उसकी तस्वीर नहीं देखी थी, देखी भी हो तो पहचानी नहीं, और उसका रोल नम्बर मुझे पता नहीं। पर अफवाह भी कैसी। प्लेटें धोने वाले का बेटा डी.एम. बन जाए और खुदा ना खास्ता नवीन के जिले में उसकी पोस्टिंग हो जाय तो इन्हें उसका मातहत न बनना पड़ेगा। थी न दुख की बात! दूसरा कोई आई.ए.एस. बना होता— हर साल अनेक बनते हैं— तो मुझे दु:ख क्यों होना था। पर, गनेसी परसाद का बेटा डी.एम. बन जाए तो क्या मुझे दु:ख न होता? एक तो वह मेरे पड़ोस में रहता है, दूसरे उसकी जाति मेरी ही जाति है। कैसे दु:ख न हो।

उसका बेटा भी न जाने किस टुच्ची मिट्टी का बना हुआ है। लोगों से सुना था कि ट्यूशन करता था और पढ़ता था। यही बात मैंने गनेसी परसाद की बीवी से कही थी— खोटा। भला पढ़ाई बेची जाती है? रिक्शा चलाता, बाप की तरह चम्मच धोता तो कोई बात बनती। छि.! छि:! 'वह बोली थी— दीदी, काम तो कोई बुरा नहीं होता। पढ़ना-पढ़ाना तो सबसे अच्छा काम है। जहाँ चोरी नहीं, छीना-झपटी नहीं, वह घृणा के योग्य कैसे हो सकता है? डाक्टरों और लेक्चरारों को देखो। खोटा तो वही जो औकात बेंचे, वुजूद बेंचे।'

मैं अवाक्! जीभ हिलाने के पहले ही जान गई थी कि मेरा तर्क ओछा था और मैं अपने आप को छोटा कर रही थी, किन्तु वह इस तरह लात मार जाएगी, मैंने कल्पना तक नहीं की थी। वह अपढ़ औरत किस तरह से डांफ रही थी? ऐसी बातें, ऐसे अंदाज में, मैं सुनाती तो जंचता भी। नवीन तो पी.सी.एस. की लिस्ट में थे ही नहीं। बैक डोर से एक लाख रुपए दे आए तब जाकर टॉप-10 में जगह मिली। गनेसी परसाद की बीवी ने देखे होंगे कभी दस हजार, एक साथ? कमीनी, केस-हिस्ट्री सुधार रही थी। मुझे लगा, वहाँ से नहीं भागी तो कहीं व मेरी ही केस-हिस्ट्री न खोल दे। ऐसी औरतों से सौ कोस दूर ही रहना चाहिए। मजबूरन मुझे उसे बिना परास्त किए ही लौटना पड़ा था।

मैंने बिरिज सिंह से पूछा, 'वह अपने आपको खुदा समझती है। तुम्हारा क्या खयाल है?

— ऐसा नहीं है मेम साब— वह सकपका गया।

— सुना है उसका लड़का डी.एम. बन रहा है।

— हाँ मेम साब।

मैंने चुप हो जाना चाहा, किन्तु औरतों की यह बात खुद मेरी समझ में आज तक नहीं आई कि जो वे नहीं चाहतीं, वही करती क्यों हैं? उससे बोलना मैं नहीं चाहती थी और बोल भी रही थी।

— अच्छा बिरजू, वह तो बड़ा कानून छांटती है। लगता है, सारी पढ़ाई घोंख ली है। तुम कुछ

जानते हो?

वह अनमना हो गया। कुछ कहना नहीं चाहता था पर जब मैं ही बात करने को आमादा थी तो वह कर ही क्या सकता था?

— बी.ए. पास है जी। -दुखी मन से उसने कहा।

मेरे हाथ से पत्रिका फिसलकर नीचे गिर गई,

— क्या बकवास करते हो। बी.ए. पास है और झख मार रही है! पति ऐसे-वैसों को सलामी ठोंकता है।

— भाग्य भी तो कुछ होता है न मेम साब! — वह बोला, अब तक तो ओ.एस. होती।

मुझे लगा बिरिज सिंह मुझे बेवकूफ बना रहा है अथवा उसके भाई ने जरूर उसे भंग पिलाई है। फिर भी, उत्सुकता मचल-मचल उठती थी। पूछा— कैसे?

— प्रोमोशन तो होता न ?

— कौन सी नौकरी करती थी? मुझे हँसी आई।

— क्लर्क थी जी।

— और गनेसी प्रसाद?

— इनका लव-मैरिज है मेम साब।

— वाकई! दिलचस्प है। नौकरी क्यों छोड़ दी?

— छोड़ी कहाँ? छुड़ा दी गई।

— वो कैसे?

— लोग बड़े दुष्ट हैं मेम साब। यह मत पूछिए कैसे? बस इतना समझ लीजिए कि आबरू बच गई बिचारी की। जान भी जा सकती थी।

— खैर, हम मान लेते हैं कि वह नौकरी करती थी। पर, लगी-लगाई नौकरी इतनी आसानी से कैसे छूट जाती है? जरूर उसने हेरा-फेरी की होगी।

— आप औरत होकर भी औरत की बात क्यों नहीं समझतीं मेम साब। उसने चोरी-हेराफेरी बिलकुल नहीं की।

— तुम कैसे जानते हो

— आप दो या तीन साल से यहां हैं। मैं यहीं पैदा हुआ हूँ। हो सकता है , मर भी जाऊँ यहीं ।

वह बहुत उटपटांग बकने लगा था । डांटती तो चुप हो जाता किन्तु मेरी दशा ऐसी नहीं थी कि सन्नाटा पीती ।

वह अपने आप ही चुप हो गया । काटे पर नमक भुरभुराने जैसे खामोशी थी । मैं नान-मैट्रिक और वह बी.ए. पास! हूँ ह्। मैं उससे क्या कम बोलती हूँ अंग्रेजी ?

... और सबसे ज्यादा दुःख तो मुझे तब हुआ जब नवीन ने भी उस मनहूस की तरफदारी की। उसकी बात मैंने ही चलाई थी,जब वे दौरे से लौट थे। मेरे आँसू सदा छलते रहे हैं मुझे। तब भी इन्होंने ऐसा ही किया था। मुँह का लटकना तो नवीन ने जरूर देखा होगा, फिर भी कुछ पूछा क्यों नहीं? दुःख वाली बात और कौन-सी हो सकती है?

..... और रात में मैं चुपचाप लेट गई। इन्होंने करवट बदली और मेरा मुँह अपनी ओर करना चाहा। मैंने वैसा नहीं किया तो। वे खीझे नहीं, जबकि मैं चाहती थी कि वे खीझें भी और मुझे मनाएँ भी। लेकिन इन्होंने बस इतना ही कहा— 'वीणा, लगता है थक गई हो, सो जाओ।' और, यह ऐसा दुःख था जिसके बारे में मैं कुछ नहीं कह सकती। रात भर पापा की टूटी टांग की खड़खड़ाहट, बिरिज सिंह के गैस-स्टोव धराने की सूं-सूं के साथ मेरा चेहरा— जो अब बूढ़ा हो गया था डूबता-उतराता रहा— जैसे धूपछांही में डोलता बादल का कनफट टुकड़ा..।

... फिर इंसानों का जमघट जिसमें काले-गोरे, जात-कुजात, पढ़े-अनपढ़— सभी एक ही भाषा बोल रहे थे। शोर इतना हुआ कि मैं सो नहीं सकी।

सुबह होने में अभी देर थी किन्तु मेरे सिर पर जेठ का सूरज खौल रहा था। ❑

कहानी

प्रभु नारायण वर्मा

मिट्टी के हाथी

मैं जल्दी-जल्दी जा रहा था कि थोड़ी बहुत सब्जी-भाजी खरीद लूँ, तभी सब्जी दुकानों के ठीक पहले मिट्टी के हाथी दिखे।

दरअसल आज सक्सेना की लड़की की शादी की पार्टी थी। सक्सेना आकाशवाणी में म्यूजिक सेक्शन का अफसर था और मैं उसके अण्डर में काम करने वाला एक म्यूजिक कम्पोजर। संगीत के मामले में तो खैर ससुरा पूरा औरंगजेब था पर वह मेरा बॉस था और इस लिहाज से आज की पार्टी में मुझे एकदम चाक-चौबंद, बमय निपोरे दाँत और जुड़े हाथ हाजिर रहना ही होगा— यह सोचकर ही मुझे कुढ़न हो रही थी। सब्जी मार्केट मैं रोज आता था। यह रास्ते में भी पड़ता था और शाम तक सब्जियाँ कुछ सस्ती भी हो जाती थीं, इसीलिए मैंने यह क्रम बना लिया था कि घर लौटते समय एक दिन की सब्जी खरीद लेता। कहने को भी हो जाता था कि हम तो ताजी सब्जियाँ ही खाते हैं, सो फ्रिज-व्रिज की क्या जरूरत।

मिट्टी के हाथी को देखते ही मुझे ऐसी खुशी हुई जैसे किसी गीत की कम्पोजिशन सूझ गई हो। यूरेका— मैंने सोचा, इन्हीं हाथियों को ले लूँ। आज की पार्टी में प्रेजेन्ट करने के लिए सस्ती भी रहेंगी और उल-जुलूल मनिहारी उपहारों से लाख दर्जे बेहतर भी। झख मारकर सक्सेना को भी तारीफ करनी होगी। हैण्डीक्राफ्ट का सामान है आखिर। ये तो जितना बेडौल दिखे उसे उतना ही स्तरीय समझो। जितना अनुपयोगी उतना ही भव्य। हमारी आकाशवाणी की तरह— मैंने सोचा और मुस्कुराया।

सिर्फ हाथी ही नहीं, वहाँ दिए, मिट्टी के कलश, गुल्लक, धूपदान और घड़े भी थे। बेचने वाला एक दुबला-पतला बूढ़ा था, जो उकड़ूँ बैठा हुआ था। बिखरे हुए खिचड़ी बाल, खूंटियों में अधपकी दाढ़ी, छोटा सा चेहरा और बहुत ही छोटी ठुड्डी। वह उकड़ूँ बैठा था— एक फटी मैली चादर को चारों तरफ से ओढ़े हुए—सिर्फ उसका चेहरा और एक हाथ चादर से बाहर थे। हाथ की लम्बी हड़ियल उंगलियों के बीच एक बीड़ी फँसी थी। मुँह को तनिक आसमान की तरफ उठाए, बड़े मनोयोग से वह बीड़ी के सुट्टे खींच रहा था। वैसे ही उकड़ू बैठे, चेहरा उठाए हुए की मुद्रा में ही उसने मुझे अपनी धँसी और कीचभरी और घुच्ची आँखों से देखा, बिना किसी भाव के। मुझे तनिक चिढ़ हुई, बुड्ढे ने मिट्टी के चार भंडे बरतन क्या बना लिए, अपने आपको तीसमारखाँ समझ रहा है। ग्राहक हूँ मैं, क्या इसे थोड़ी तत्परता से पेश नहीं आना चाहिए! इसीलिए तो बरक्कत नहीं होती पाजियों की।

मैंने सोचा कि इतनी चीज़ों में अगर मैं सीधे हाथी जैसे फैंसी आइटम के दाम पूछूँगा तो बुढ़ऊ तुरन्त ताड़ जाएगा कि एक बेवकूफ आन फँसा। पर क्या वह सचमुच इतना सयाना है? मैंने उसे यूँ ही देखने का नाट्य करते हुए, भांपने की एक संक्षिप्त परन्तु तीव्र कोशिश की। वह इतने

स्थिर और भाव-विहीन तरीके से सीधे मुझे देख रहा था कि मेरी समझ में कुछ नहीं आया कि यह आदमी सीधा-सादा है या नम्बरी है। तिस पर उसका वही उठा हुआ मुँह। यह मुद्रा विशेष मुझे बड़ी उपेक्षाजनक लग रही थी। मैं थोड़ा गड़बड़ा भी गया था। वह यूरेका वाली खुशी भी अब मन्द पड़ गई थी।

शतरंज की चाल चलने सी सतर्कता के साथ मैंने इधर-उधर एक-दो सामानों को छुआ-टटोला।

'ये गुल्लक कित्ते में दिया?'

'कौन सा?' उसने कहा।

अंधा है क्या! मुझे चिढ़ हुई।

'अरे यही— ये वाला' मैंने कहा।

'छोटा दो में, बड़ा तीन में।'

'इसमें बड़ा-छोटा तो कुछ दिख नहीं रहा', मैंने उसका मनोबल तोड़ना चाहा, पर वह अप्रभावित रहा।

'है, है, ठीक से देखो बाबू— कोई बड़ा है, कोई छोटा है।' मैं और प्रतिवाद करना चाहता था, कर भी सकता था, फिर मैंने सोचा हटाओ हमें तो हाथी खरीदना है।

'और ये दिये कैसे दिए?' मजा आया यह वाक्य बोलने में। जैसे किसी गीत की लाइन हो। पर बुढ़ऊ तो आज कसम खाकर बैठा था।

'तुमको लेना क्या है?' बिना किसी भूमिका के उसने यह आक्रमक प्रश्न दागा। मेरी सारी चपलता छू मंतर हो गई।

'क्या दोनों का दाम नहीं पूछ सकते क्या?' मैंने भन्नाकर पूछा।

'पूछ सकते हो, पूछ क्यों नहीं सकते....' एक क्षण रुककर न जाने क्यों उसने कहा 'बिलकुल पूछ सकते हो— पूछने का कोई दाम थोड़े लगता है। उसका चेहरा भी तनिक सीधा हुआ। तो अब आया बच्चू लाइन पर। पूछने का कोई दाम नहीं लगता— इस तथ्य को जानकर नहीं, बल्कि इन शब्दों को, इस मुहावरे को सुनकर संतोष हुआ। यानी अब हम ग्राहक विक्रेता की परम्परागत निर्मम और काइयां बातचीत मधुर ढंग से कर सकते हैं। जिसमें दम हो, दूसरे को उल्लू बनाकर लूट ले।

'अब दीवाली के लिए दिन कितने बचे हैं? दिये ले लो। बाद में और भी मंहगे ही मिलेंगे। अभी तो पन्द्रह रुपए सैकड़े लगा दूँगा।'

पन्द्रह यानी पन्द्रह मिनट के मोल-भाव के बाद— मैंने सोचा, चलो ले ही लेते हैं। पर मुझे अभी सब्जी भी लेनी है, हाथी भी खरीदने हैं, घर भी पहुँचना है और पार्टी में भी जाना है, झोला भी मेरे पास एक ही है। मैं सीधे मुद्दे पर आया।

'और ये हाथी कैसे दिए?' मैंने एक हाथी को हाथ में उठाकर घुमाते-फिराते पूछा। छोटे-छोटे हाथी थे। चार थे पर एक का पैर टूटा था, इसलिए तीन ही खरीदने लायक थे। बित्ते भर के भी न रहे होंगे। मिट्टी के थे पर थे पकाए हुए— लाल या कहीं-कहीं पर काले रंग के। उनका आकार सुडौल भले नहीं था पर उनकी आकृतियों में एक ऐसी मौलिक सरलता थी जो प्रभावित करती थी। सीधे-सादे हाथी, जैसे फिल्मों या सर्कस में नहीं दिखते। जंगलों में शायद ऐसे ही होते होंगे।

'दस का एक' उसने कहा।

'दस का एक, यानी दस तिया तीस के तीन। मोल-भाव के बाद बीस के तीनों को दे ही देगा। अरे वाह— ये तो लिफाफे में इक्कीस नकद रख कर देने से भी सस्ता ही हुआ। सक्सेना के हिसाब से मैंने पचास-साठ तक खरचने का मन बना लिया था। यहाँ तो मामला बीस में ही पटता दिख रहा था। बहुत अच्छे— मैंने अपनी ही पीठ थपथपाई। बस अब कुशलता से मोल-भाव की ही तो बात है।

'ये देखो— एक हाथी का तो पैर ही टूटा है '

'और एक तो बहुत ही छोटा दिख रहा है' मैंने एक और दाव फेंका।

'सब एक ही दाम के हैं' उसने घोषणा की।

'बड़े-छोटे सब एक ही दाम के?'

उसने सर को सिर्फ थोड़ा सा डुलाया, यानी हाँ, मैंने उसे घेरने की कोशिश की।

'पर अभी तो गुल्लक में तुम छोटे-बड़े का अलग-अलग भाव बता रहे थे?'

'गुल्लक बनाने में कोई खास मेहनत नहीं है। उसका दाम साइज से है। इसको बनाने में मेहनत बहुत है। मेहनत का ही दाम है।'

यह जवाब मार्के का था, और साथ-साथ इतना अकाट्य था कि मुझे बुदबुदाने के लिए भी कोई कुतर्क नहीं सूझा। तभी एक नौजवान सा देहाती एक छोटे से बच्चे को लिए वहाँ आया। उसके छोटे चेहरे और खासकर छोटी ठुड्डी से मैं तुरंत पहचान गया कि यह बूढ़े का बेटा है। उसके साथ जो बच्चा था पांचेक साल का रहा होगा। वह एक फटी हुई, मैली सी शर्ट पहने था जिसमें बटन नहीं लगे थे, इस कारण वह सामने से बिलकुल खुली थी। नीचे वह एकदम फटी-सी नेकर पहने था। गंदगी से वह सबलाया भले ही दिख रहा हो, वैसे था वह बड़ा गुदगुदा और स्वस्थ बालक। उसके हाथ में एक सूखा और मुड़-तुड़ा दोना था, जिसमें गुड़ से बनी कोई सस्ती और घटिया सी मिठाई थी। एक हाथ से वह उसी मिठाई को कुतर-कुतर कर खा रहा था। मिठाई के गुड़ का मैलापन उसके गालों और ठुड्डी पर भी फैला हुआ था। ठुड्डी से ख्याल आया कि बच्चे की ठुड्डी संतुलित थी, बुढ़ऊ और उसके बेटे जैसी गुचकुलिया ठुड्डी नहीं थी।

बच्चा अपनी बड़ी-बड़ी आँखों से मुझे ही देख रहा था, उसकी आँखें न केवल बड़ी-बड़ी थीं, बल्कि इतनी स्वच्छ और तरल आँखें थीं कि मैं ठगा सा उसे देखता ही रह गया। बच्चा भी एकटक मुझे देख रहा था। मेरे अंदर कहीं कुछ भीगता मालूम हो रहा था, किसी मद्धम फुहार में भींगता हुआ। मेरी आवाज भी तनिक आर्द्र हो गई—

'क्यों बच्चे, तुम्हारा नाम क्या है?'

बच्चा तत्काल मुड़ा और बूढ़े के पास चला गया। बूढ़े ने उसे अपने अंक में समेटा और अपने चादर के घेरे में ऐसे ले लिया कि अब सिर्फ बच्चे का सिर ही बाहर झांक रहा था। उसने बच्चे से कहा— 'ठंड नहीं लग रही है मेरे लाल? और मुँह को कितना गंदा कर दिया तुमने। नाक भी बह रही है। कोई बात नहीं— बाबा पोंछेंगा अपने लाल को— अपने जिगर के टुकड़े को साफ करेगा— एकदम राजा बेटा बनाएगा' और वह बड़ी तल्लीनता से बच्चे का मुँह पोंछने लगा, उसकी नाक की मैल निकालने, उसके बिखरे बालों को अपनी उंगलियों से कंघी करके दुरुस्त करने लगा। बूढ़ा अपनी दुकानदारी को और मुझको एकदम भूल गया सा लगता था।

खुद मैं भी भूल गया था कि मुझे देरे हो रही है। तभी नौजवान ने पूछा क्या लेना है साहब?

मैंने उसांस भरकर कहा— 'हाथी लेने थे भइया पर तुम्हारे दाऊ साहब तो बहुत ही ऊँचा भाव बता रहे हैं।'

बूढ़े ने हँसते हुए प्रतिवाद किया— 'आजकल किस चीज का भाव ऊँचा नहीं है साहेब। हमी लोग छह रुपिया किलो चाउर खरीद रहे हैं। आप बड़े लोग हो— दस रुपिया आपके लिए कौन बड़ी चीज है।' फिर एक क्षण रुक कर बोला 'अच्छा चलो आठ ही दे देना, पूजा-पाठ की चीज में का मना करेंगे।'

'पूजा की चीज?' मैंने पूछा। मालूम हुआ कि आज कोई त्यौहार है जिसमें स्त्रियों को पूजा के लिए मिट्टी का हाथी दरकार होता है। उसने बताया कि इसीलिए तो आज वह हाथियों को बेचने ले आया है। वह सोच रहा था कि मैं एक ही हाथी खरीदूँगा, पर मैं मालवे का था और हमारे उधर इस त्यौहार को शायद ही कोई जानता होगा।

यानी अभी थोक के रेट में मोल-भाव करने का पूरा स्कोप है, मैंने सोचा।

'मुझे पूजा में नहीं चढ़ाना है भाई, आप

वाजिब बताओ तो मैं तीनों ले लूँगा।'

बूढ़ा कुछ कहना चाहता था पर इस बीच बच्चे ने अपना एक हाथ चादर से बाहर निकाल लिया था और नन्हें से हाथ से बूढ़ा का चेहरा पकड़कर अपनी ओर घुमाने और कुछ कहने की कोशिश कर रहा था, इसी कारण उसने मुझे छोड़ बच्चे की ओर ध्यान दिया।

बच्चा उसके कानों में कुछ फुसफुसा रहा था, हालांकि उसकी आँखें मुझपर ही टंगी थी। बूढ़े ने एक-दो बार आयं? आयं? करके पूरी बात सुनी और फिर ठठाकर हँस पड़ा। बोला— 'हट रे पगले, हमारे पास जम्मू की कोई कमी है। अभी घर में तेरे लिए जम्मू ए जम्मू बना दूँगा।' बच्चा फिर ठुनकने लगा। वह मान नहीं रहा था।

मैं समझ नहीं पा रहा था कि ये 'जम्मू' क्या बला है। बूढ़े ने शायद मेरा असमंजस ताड़ लिया। हँसते हुए उसने कहा, 'अरे साहब इस बुड़कब को तो सोते-जागते हर समय हाथिये का ही सुर चढ़ा रहता है, कह रहा है मेरे जम्मू को मत दो।'

बूढ़े ने मुझसे कोई सवाल तो पूछा नहीं था, जिसका मुझे जवाब देना हो, फिर भी मैं गड़बड़ा गया। क्या कहूँ, क्या न कहूँ, समझ में नहीं आ रहा था।

बहरहाल, मुझे राहत तब महसूस हुई जब बूढ़े ने ही हाथियों के मोल-भाव का सिलसिला शुरू किया। मैं इतना पस्त हो गया था कि मैंने हुज्जत नहीं की और बूढ़े के ही प्रस्ताव को थोड़ी कांट-छांट के बाद मान गया— यानी तेइस रुपए में ही तीनों हाथी। चूँकि यह इक्कीस रुपए के स्टैंडर्ड रेट से दो रुपये अधिक का प्रजेंटेशन हो रहा था इसलिए मुझे लगा कि थोड़ा चूना तो लग गया। मुझमें लगन की कमी है और इसीलिए मैं रह जाता हूँ। पर बच्चा मुझे लगातार देखे जा रहा था और मैं यह पचड़ा जल्दी से जल्दी निपटा कर भागना चाहता था।

यहाँ तक कि हाथी खरीदने के बाद भी जब मैंने बूढ़े को पैसा देना चाहा उस वक्त बच्चे ने बूढ़े के हाथों को इतनी जोर से जकड़ लिया था कि बूढ़ा पैसे लेने के लिए हाथ ही नहीं बढ़ा पा रहा था। हारकर मैंने बूढ़े के नौजवान बेटे यानी बच्चे के पिता के हाथ में ही पैसे दे दिए।

अब एक समस्या यह बची कि इन हाथियों को कैसे घर ले जाया जाय। अगर इन्हें स्कूटर की डलिया में ऐसे ही रख दूँ तो घर पहुँचते-पहुँचते तो ये टूट-फूट के बराबर हो जाएंगे। बूढ़े ने इस समस्या का हल चुटकियों में निकाला। उसने अपने नौजवान बेटे को ताकीद की कि डलिया में कुछ पुआल रखकर उसमें हाथियों को सुरक्षित ढंग से रख दे। नौजवान ने वैसा ही किया।

मैं अब तक बच्चे को देखने से बच रहा था। चलते-चलते मैंने उस पर एक उचटती सी चोर नजर डाली। बच्चा हताश था। शायद थोड़ा नाराज भी, और वह सीधे मुझे ही देख रहा था। अपनी ग्लानि पर लीपा-पोती करने के लिए मैंने किसी आहट के साथ एक औपचारिक वाक्य कहा— 'अच्छा बाबा चलता हूँ।' बूढ़े ने सिर डुलाया यानी 'अच्छा।' मैंने उत्साहित होकर एक और बेकार सी बात जोड़ी 'हाथी घर तो पहुँच जाएंगे न?'

बूढ़े ने ऊँची और मुक्त आवाज में कहा, 'हाँ बाबू, पुआल खाते-खाते घर पहुँच जाएंगे— बल्कि घर पहुँचते-पहुँचते खा-पीकर बढ़ भी जाएंगे ' और वह जोर से हँसा।

मैंने अचकचा कर बूढ़े को देख। वह हँसता हुआ बच्चे को गुदगुदा रहा था। बच्चे की आँखों में एक स्वच्छ और तरल चमक थी और वह चकित भाव से अपने बाबा को देख रहा था। एक फीकी सी मुस्कराहट ने बच्चे के चेहरे को और स्निग्ध बना दिया था।

क्षण के करोड़वें हिस्से में मेरा सारा तनाव गायब हो गया। बूढ़े की हँसी मेरे अंदर झरने जैसा असर कर रही थी। यह हँसी नहीं एक सुलह

का प्रस्ताव था जिसे मैंने और बच्चे ने मान लिया था।

मैंने हाथियों को धीरे से छुआ 'चलो जम्मू', मैंने मन ही मन कहा। पर ये तो सक्सेना के घर पार्टी में प्रेजेंट....

नहीं जाना मुझे पार्टी-वार्टी में और भाड़ में जाए सक्सेना। मैं तो सीधा घर जाऊँगा। ड्राइंग रूम में टी.वी. के ऊपर जो दो चीनी मिट्टी के शेर रखे हैं उन्हें हटा कर वहीं पर इन जम्मुओं को रखूँगा। अंदर कीचन से बनते खाने की खुशबू आती होगी और मैं अपने बच्चे को दुलारते हुए विलायत हुसैन खा का सितार सुनूँगा।

'देर हो रही है...' सोचता हुआ मुस्कुराया और मैंने स्कूटर स्टार्ट कर दिया। ❑

लघुकथा

राजेन्द्र परदेसी

विवशता

वह खाना खाकर सोने के लिए लेट तो गया, लेकिन नींद नहीं आ रही थी उसे। उसकी आँखें बाँस की मुंडेर देख रही थीं और मन, वह तो पता नहीं कहाँ था। तभी तो परबतिया कब आई, उसे पता भी न चला। कमरे का दीया भी परबतिया के साथ आई हवा में बुझ गया था। अंधेरे में पता नहीं चल रहा था कि वह जग रहा है या सो रहा है, अत: टोह लेने के लिए वह बोली,

'सो गए क्या?'

'नहीं तो, ऐसे ही लेटा हूँ' बिना कोई हरकत किए वह बोला।

परबतिया को तो बात बढ़ानी थी, इसीलिए फिर बोली, 'क्या सोच रहे हो?'

'कुछ तो नहीं'

'फिर बोलते क्यों नहीं?'

'क्या बोलूँ?'

'सुबह चले जाओगे क्या?'

वह देर तक सोचता रहा फिर बोला, 'हाँ, छुट्टी कल ही तक तो है, परसों ड्यूटी करनी है'

सुबह के बिछोह की कल्पना की नागिन ने डँस लिया। परबतिया के मुँह से निकला 'कुछ दिन और रुक क्यों नहीं जाते?'

पीड़ा उसे भी साल रही थी, लेकिन करे क्या? पेट जो बीच में आ जाता है। फिर भी, दुखते मन से कहा, 'कैसे रुकूँ? छुट्टी भी बाकी नहीं। रुक जाऊँगा तो पैसे कट जाएंगे। फिर, यहां बहुत दिक्कत हो जाएगी। वैसे जैसा तुम कहो।'

'मैं क्या बताऊँ। तुम तो खुद ही समझदार हो। परसों चन्दर आया था। कह रहा था कि तिवारी के यहां से जमीन छुड़ा लो, वह बटाई पर जोतने को तैयार है।' फिर अपनी सलाह देते हुए कहा, 'अच्छा ही रहेगा चार-छ: मन अनाज तो साल में आ जाएगा। अभी तो यही देखना पड़ता है कि मनीआर्डर आए कि घर में दाना आवे।'

'इसीलिए तो जा रहा हूँ कि तुम लोगों को तकलीफ न हो।'

फिर वे दोनों विवशता की चादर में सिकुड़-सिमट रहे। ❑

कविता

चैतन्य त्रिवेदी

संवाददाता लिखता है कि...

एक तरफ ही बहता दिखा खून
तीन तरफ से घेरे प्रजातंत्र
एक तरफ बुद्धिजीवी
दूसरी तरफ न्यायपालिका
और तीसरी तरफ संताप से उपजा धर्म
संवाददाता लिखता है —

'मृतका का चेहरा पहचान पाना बेहद मुश्किल
फिर भी हत्या इतनी नृशंस नहीं मानी जा रही थी
जबकि इस विकट समय में
जीते-जागते चेहरों को पहचानने में
कई यकीनों का सहारा लेना पड़ता है
वहाँ मृतका के चेहरे की पहचान तो और मुश्किल'
संवाददाता के इस विश्लेषण से
अपनी स्तब्धता छिपाते हुए सारा देश सहमत था

संवाददाता आगे लिखता है—
'लंबे रास्ते की निरर्थक होड़ में
खून, जो कुछ दूर रिस कर रह गया था
शायद समझ चुका था
जिन रास्तों पर जुर्म तय होते हैं
उन रास्तों से इतिहास तय नहीं होते
ऐसे समय में जबकि इस लंबे रास्ते पर
अभी कई खून होने की संभावनाएं
व्यक्त की जा रही हों।
जमाना इतिहास में दर्ज विश्वासों पर चलता है
घटनाओं से सबक लेने की कोई तालीम नहीं
बनी है'

संवाददाता बताता है—
'हत्यारे ने कुछ भी नहीं लूटा
न स्वर्णाभूषण / न मुद्राएँ
बंद पड़ी कलाई घड़ी भी नहीं
यहाँ तक कि / जैसा जाँच से ज्ञात हुआ
उस खूबसूरत रही होगी मृतका की इज्जत भी नहीं
खड़े-खड़े कच्चा चबा डालने वाले इस समय में
इज्जत लूटे जाने की कई ऐतिहासिक घटनाओं के
परिप्रेक्ष्य में/ हत्या के कितने पवित्र मकसदों से
भरा था हत्यारा—

हम सब उसके प्रति श्रद्धावनत्
और पवित्र हत्या मानी जाने के लिए
चर्चा का विषय बन चुकी थी यह बात
मृतका की बंद कलाई घड़ी में
रुके समय का समर्थन भी
जीवन की समाप्ति का संकेत माना जा रहा था
जिसको मरना है उसे कोई रोक नहीं सकता
जिसकी जैसी लिखी है
सिर्फ हत्यारे अपवाद रहे इस तथ्य में

अपने अंतिम डिस्पैच में संवाददाता लिखता है—
'जो पहली खबर नृशंस हत्या की भेजी गई थी
उसे रोक लिया जाए।
देर रात संसद सौध में संपन्न हुई
सर्वदलीय बैठक में
इस बात पर आम सहमति नजर आई कि
इसे हत्या मानना सार्वजनिक हित में नहीं है
विज्ञान और प्रजातंत्र के मिले-जुले प्रयासों से
जिन्दगी कोमा में ढूंढ ली गई है
आयुर्विज्ञान संस्थान से जारी बुलेटिन में
मृतका की हालत नाजुक लेकिन स्थिर बताई गई है'
●

जोखिम

जब बच्चे पूछेंगे
खतरनाक लोगों के बारे में
तो अच्छे लोगों के बारे में भी
बताना पड़ सकता है
उठाईगिरों / हत्यारों और लुटेरों को तो
कल्माषपाद / वाल्मीकि की कथा से
या अंगुलिमाल के दृष्टांत से
समझाने की पर्याप्त गुंजाइशें हैं
पर अच्छे लोगों के खतरनाकपन के बारे में
कहीं कोई दृष्टांत या आख्यान नहीं है

मतों/ विचारधाराओं और श्रद्धा के
नाना रूपों में निखर आया है
उनका डरावनापन

बच्चे जब पूछेंगे
खतरनाक किताबों के बारे में
अच्छी समझी जाने वाली किताबों का भी
जिक्र आ सकता है
बुरी पुस्तकों के खिलाफ तो
पाठशाला की पुस्तकें / बोध और नीति पुस्तकें
रखी जा सकती हैं—
पर अच्छी पुस्तकों के विचारों की
खतरनाक व्याख्याओं,टीकाओं और विश्लेषणों से
बढ़ा है
उनका डरावनापन।

●

निर्द्वन्द्व

विश्राम गृहों में कालीनें
और सड़कों पर लाशें बिछा दी गई हैं
जहाँ भी ठहरना चाहें
जिधर से भी गुजरने का मन हो

उधर रंगशाला में जो लोग
आग के गोलों से साहित्य दाग रहे थे
ग्लास में आइस क्यूब की तरह
आपकी प्रतीक्षा कर रहे हैं

समारोह की तैयारी हो चुकी है श्रीमान्
इस रात जितनी आग इस शराब में है
वही आग दिन के उजाले में
लोगों के खून में भी देखी जा सकती है
आप/ दोनों के नशे का शौक फरमाते हैं
मिट्टी में सनी इज्जत से
नाहक परेशान न रहा करें

जब तक आपकी इस अंगूठी में से संस्कृति /
पशमीना शाल की तरह
निकाली जाती रहेगी
कस्तूरी को / घास-घास ढूँढने का चक्कर
चलता रहेगा
यह नशा हिरन नहीं होगा हुजूर।

●

अणम्मा की खबर और इवान्ना की कविता

अणम्मा की खबर थी अखबार में
चार लोगों द्वारा बदसलूकी किए जाने के बाद
अणम्मा ने आत्महत्या कर ली
समाचार पढ़ने के ठीक पहले
मैं इवान्ना के बारे में लिखी गई
कविताओं के अनुवाद पढ़ रहा था

अणम्मा एक गरीब स्त्री
इवान्ना भी एक गरीब स्त्री
अणम्मा के साथ
जिन चार लोगों ने बलात्कार किया
उन्हें राजनीति में ऊँचे पद प्राप्त
इवान्ना के प्यार में जो चार लोग पड़े थे
वे भी ऊँचे और सम्माननीय लोग
इवान्ना किसी एक को चुनने के लिए स्वतंत्र
अणम्मा का लड़का जो देख रहा था यह सब
इतना डर गया कि कुछ बोल नहीं पा रहा है
बस, रह-रह सिसकता

इवान्ना का लड़का
उन चारों से पिता का-सा प्यार पा रहा था
अणम्मा को आत्महत्या करनी पड़ी
इवान्ना जिन्दगी से सराबोर

कुछ दिन बाद
अणम्मा की खबर रद्दी में न जाने कहाँ खो गई
और किताब में कविता बन इवान्ना
अब भी मुस्करा रही हो जैसे।

●

वह बता रही था

अगला स्टेशन
पानीपत है
वहाँ मेरी लड़की रहती है
आगे उसने बताया—
बड़ी तकलीफ में है वह
कल ही उसकी चिट्ठी मिली
जिन्दगी की लड़ाई का एक दुखद वर्णन

पानीपत में यही तो होता आया है

मैं सोचता हूँ—
पानीपत की हारी लड़ाइयों में
यह एक लड़ाई और
पानीपत के तीसरे युद्ध में
मराठों के पतन के कारण जान सकने वाले देश में
इस चौथी पराजय को
जी रहा था समाज
पानीपत में कितनी भी लड़ाइयाँ हो
इतिहास के मोड़ जब तक समझता नहीं समाज
तब तक नहीं जीती जा सकती
इस लड़की की लड़ाई

पानीपत में उतर जाती है वह औरत
अपनी बेटी की खातिर
अकेली चल पड़ती है पानीपत में।

●

रीत

कभी-कभी जो काम
चलने से नहीं हो पाता
वह हाथ बढ़ाने भर से हो जाता है
पर, इस दुनिया की रीत दूसरी है
मिलने से ज्यादा चलने पर जोर
ऐसे में जो साथ चल रहे होते हैं
जल्दबाजी में हम
उनके चेहरे भी ठीक से नहीं देख पाते

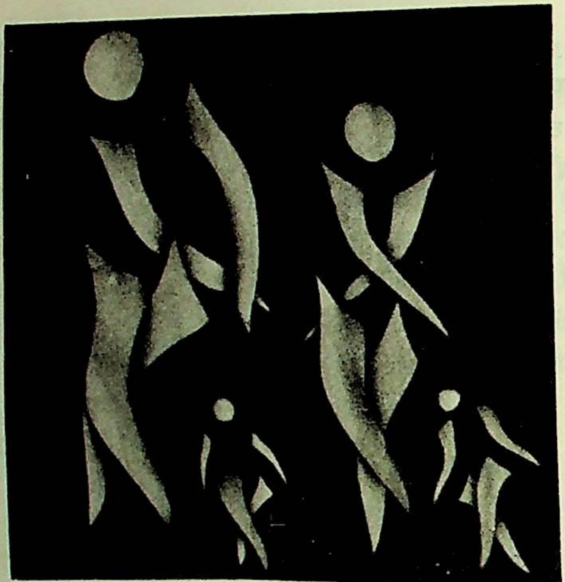
अरसे बाद
एक लंबे फासले पर पता चलता है
हमारे साथ आखिर ये कौन लोग आ खड़े हो गए

ध्येयों को तय कर शुरू हुई यात्राओं के मार्ग
आगे धकेले जाने की विवशता में बदल चुके हैं
रास्ता धीरे धीरे सँकरा होने लगता है
जिनसे पिंड छुड़ाना था
उन्हें भगदड़ में कुचल दिया जाता है
जो किसी तरह बचते हुए भागते दिखे
'अनियंत्रित भीड़' मान
गोली से मार दिया जाता है

अगली सुबह ओवरकोट की जेब में
किसी खास इलाके के लोग
रोजाना की सैर पर वैसे ही निकलते हैं
सड़क पर बिछी लाशों से बचते
प्रशासन की लापरवाही को कोसते हुए
कि कम से कम लाशें तो उठा लेना थी

सभ्यता अभी मरी नहीं है।

❑



अवध नारायण मुद्गल

समर्पण

मेरे हाथ
जो उठा दिए गए थे
अब तक उठे हैं
हर आने जाने वाले के प्रति
स्वागत और विदाई में

मेरी गर्दन
जो झुका दी गई थी
अब तक झुकी है
न जाने किसके सामने
किस सोच में खोई हुई

मेरे संपूर्ण
व्यक्तित्व और अस्तित्व के साथ
जो तोड़ दिया गया था
न जाने क्यों
वह अभी तक नहीं जुड़ सका।

●

रात : समुद्र में डूबी रोशनियाँ और मैं

मेरे कन्धों पर
कुहनियाँ टिकाए खड़ी है
कभी-कभी खुलने वाली मेरी खिड़की
न जाने क्यों
शहर की सारी रोशनियाँ
मेरी ही खिड़की के सामने फैले
सीमित समुद्रांश में डूब गई हैं
पानी के अंतराल को चीरती हुई
आग की लकीरें
मेरी खिड़की के खुले पल्लों में सिमट कर
मेरे कन्धों को जला रही हैं
और मैं
खिड़की बन्द कर
चुपचाप लेट गया हूँ
अनुभव कर रहा हूँ
बाहर अंधेरे में
रूढ़िगत
आत्महन्ता रोशनी की देह से निकली
क्षण स्पर्शी ऊष्मा का
कांप कर टूटती नयी देहों में विलयन

□

राम कुमार तिवारी

माँ बच्चे को दूध पिला रही है

डूबता जहाज
डूबते- डूबते
एक टापू से जा लगा

डूब रहे जहाज में
चीखती स्त्री ने समय से पहले
दिया एक बच्चे को जन्म

बच्चे का होना यूँ हुआ मानो
धरती मिल जाने की खुशी में शामिल होने
आ पहुंचा हो जन्म

बच्चे की बड़ी-बड़ी आँखे
अब तक जनमें बच्चों से बड़े उसके पैर
उसके चारों ओर
पूरे समुद्र से उफनता एक समुद्र
पूरे आकाश से खाली एक आकाश

उसे चाहिए
अब तक की धरती से बड़ी धरती

ज्वार में टापू डूबे इससे पहले
सबकी चिन्ता सुरक्षित धरती की

धरती पर बैठी माँ
बच्चे को दूध पिलाती
समुद्र की ओर हवा में मचलते
बच्चे के पैर

धरती अगर एक डूबता जहाज है
तो धरती पर बैठी माँ
बच्चे को दूध पिला रही है

●

धीरे-धीरे नष्ट करते हैं

जगहें घिरी हैं
कुछ दूर जाता हूँ

होता हूँ इस तरह खड़ा
एक पूरी दिशा में होती है मेरी पीठ

अनजाने ही खुले को घेरता हूँ

पाते-पाते खोता हूँ
धीरे-धीरे धरती
जल्दी - जल्दी आकाश
भाग - भाग कर पुकारता हूँ जीवन
देख-भाल कर करता हूँ प्यार

चाहता हूँ मेरी वजह से सुन्दर हो यह
दुनिया

कैसी चाहत है हमारी
जो हम हैं उसे
धीरे-धीरे नष्ट करते हैं

●

दूर किसी अतल पेड़

एक चादर धुंधलके की
आकाश में
पल-पल होती भारी

कुछ रंग उजाले के
कुछ रंग अंधेरे के
घुल - मिल कर
धीरे-धीरे ऊपर चढ़ गए

जहां खड़ा हूँ
वहां बह-बह कर
आ रहा है अंधरा

पूरी धरती पर लोग सो रहे हैं
लंबी प्रतीक्षा के बाद
दूर किसी अतल पेड़ से
चिड़िया के बोलने की आवाज आई।

●

न होने की आवाज

जल का अवसाद हिला
गहरे बैठा पल
ऊपर आकर दिखा

लहर-लहर चला
धूप की ओर

देखते -देखते घुला
लहर बना

दिप्-दिप् होते तल पर
प्रकट हुई आभा
मौन होकर निकटतर
होती गई दिशाएं

ऐसा था सन्नाटा
कि रुक-रुक कर
न होने की आवाज
गहरे और गहरे से आई

●

बादल गड़गड़ा रहे हैं

हिमालय पर खड़ा
हिमालय का फोटो ले रहा हूँ
मकान के लिए

फाटो लेते समय
आँखों में है
मकान का फोटो जिसे
रख रहा हूँ
जगह-जगह।

खोल रहा हूँ खिड़की
कभी झरनों वाली
कभी शिखरों वाली
विस्तारों वाली

मुझे देखते ही
दौड़े आ रहे हैं शिखर झरने विस्तार
और उनके पीछे-पीछे
चीड़ देवदार!

मैं फोटो ले रहा हूँ

फोटो खिंचवा कर जा रहे हैं शिखर
झरने और विस्तार
उनके आगे-आगे चीड़ देवदार।।

मैं फोटो ले रहा हूँ

फोटो लेते-लेते चौंकता हूँ
कोई मेरा फोटो ले रहा है
कौन ले रहा है मेरा फोटो

घूम-घूम देखता हूँ
पेरों के निशान
मैं आ रहा हूँ कि
जा रहा हूँ।

कोई मेरा फोटो ले रहा है
हिमालय के पीछे
गड़गड़ाते बादलों की फ्लश कैमरा चमक।

●

मैं प्राचीन हो गया धरती पर

दूर पहाड़ की लहर पर
तैरता सूरज
क्षितिज सा डूब गया

शाम ने
दूर-दूर तक पुकारा
जगह-जगह पीछे छूटी शामें
पुकार में एक-एक करके आ गई

किसी विलुप्त शाम की चिड़िया आई
आया अव्यक्त पेड़
निराकार घोसला आया
पेड़ से उड़ी चिड़िया
कई शामों के पार पीछे
खो गई अपार ।

दूर अंधेरे की लहर पर तैरता
पहाड़ डूब गया

तारे आये प्राचीन
मैं प्राचीन हो गया धरती पर

❑

अभिज्ञात

अगली सदी तक हम

स्पंदन बचा है अभी
कहीं, किन्हीं, लुके-छिपे सम्बन्धों में

अन्न बचा है
अनायास भी मिल जाती हैं दावतें

ऋण है कि
बादलों को देखा नहीं तैरते जी-भर
बरस चुके कई-कई बार

क्षमा है कि बेटियाँ
चुरा ले जाती हैं बाप की जवानी
उनकी राजी-खुशी

जोश है बचा
कि रीढ़
सूर्य के सात-सात घोड़ों की ऊर्जा से
खींच रही है गृहस्थी

कहीं एक कोने में बचे हैं दुःख
जो तकियों से पहले लग जाते हैं सिरहाने
और नींद की अंधेरी घाटियों में
हांकते रहते हैं स्वप्नों की रेवड़

पृथ्वी पर इन सबके चलते
बची है होने को अभी दुर्घटना
प्रलय को न्यौतते हुए
नहीं लजाएंगे अगली सदी तक हम।

●

सच के पास नहीं है आदमी

सच का भूत
घूम रहा है दर-ब-दर ढूंढता हुआ
एक आदमी
उसे आदमी नहीं मिलते
वह जिसके साथ रह सके

चारों तरफ भरा पड़ा है सच
हजार-हजार आँखों से देखा जा सकता है
क्षण-क्षण महसूस किया जा सकता है
मगर उसके पीछे आदमी नहीं है
इसलिए सच, सच नहीं है

आदमी
सच से भयभीत
बुदबुदाता है - कहीं नहीं है सच
सच का अभाव है
सच का नहीं है कोई अस्तित्व

आदमी के पास सच नहीं है
और सच के पास
आदमी नहीं है।

●

कोयला खो देने के बाद

ये अंगीठियाँ
अपने साथ
आदमी के रिश्ते को
खूब-खूब पहचानती लगती हैं

जब हमारी जेबें खुश रहती हैं
अंगीठियाँ एक ललछौंहें मूंगे में बदल जाती हैं
हमारे दैनिक भाग्य से
किस कदर जुड़ी होती हैं अंगीठिया

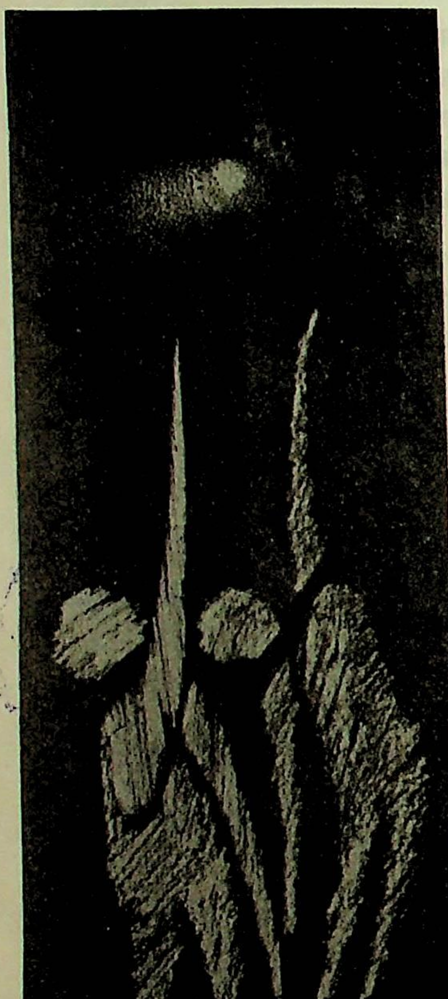
हमारी पीठ
लदे हुए बोरों की छाप लिए लौटती हैं
तो वे हमें दुलारती हैं
हड़ताल और बंद में
धुँआती हुई सुलगती हैं - हमारी ही तरह

वर्षों में अपना सारा कोयला खो देने के बाद
जब हम लौटते हैं गांव
छूट जाती हैं - अंगीठिया - उदास ❑

राजेन्द्र गौतम

तीन गीत

एक



बहुत कठिन
संवाद समय से
शब्द सभी पथराये

हमने शब्द लिखा था
'रिश्ते'
अर्थ हुआ 'बाजार'
कविता के माने
'खबरें' हैं
संवेदन 'व्यापार'
भटकन की
उंगली थामे हम
विश्वग्राम तक आये

चोर - संत के
अपने - अपने
रामायण के पाठ
तुलसी-वन को
फूँक रहा है
एक विखंडित काठ
नायक के गल
फंदा डाले
अधिनायक मुस्काये
ऐसा जादू
सिर चढ़ बोला
गूंगा अब इतिहास
दाँत तले उंगली दाबे हैं
रत्नाकर या व्यास
भगवानों ने
दरवाजे पर
विज्ञापन चिपकाये

दो

गीतों में
लिखता है जो पल
वे तूने नहीं जिये
मन, कितने पाप किये
धुंध भरी आँखें
बापू की, माँ की
तेरे सपनों में
क्या रोज नहीं झाँकी

वे तो
बतियाने को आकुल
तू रहता होंठ सिये
मन, कितने पाप किये

लिख-लिख कर
फाड़ी जो
छुट्टी की अर्जी
डस्टबिनों से झाँक रही
किसकी खुदगर्जी
भूला
टूटे छप्पर को
जितने वचन दिये
मन, कितने पाप किये

इनके संग दीवाली
उनके संग होली
बाट देखते गिर जाती
'घर' की रांगोली
घर से—
दफ्तर आते - जाते
सब रिश्ते रेत किये
मन, कितने पाप किये

तीन

बादल आये
इन्द्रधनुष ले
टूट पड़ी सेना अम्बर से
हुए पराजित गाँव
बाँस बराबर आया पानी
बहती जातीं छप्पर-छानी
फिर भी मस्ती में रजधानी
यों तो
उत्सव - संध्याओं में
चर्चे इनके ही रहते हैं
पर आशंकित गाँव

ढाणी, टिब्बों, फोग वनों में
कैसा छाया 'सोग' मनों में
भय का फैला रोग जनों में
बिजली
कोड़े बरसाती है
खाल उधेड़ी इसने तन की
थर-थर कम्पित गाँव

किधर गया रल्दू का कुनबा
बिखर गया हरदू का कुनबा
बदलू का भी डूबा कुनबा
बोल लावणी के
कजली के
सब गर्जन-तर्जन डूबे
छितरा जित-तित गाँव

❑

कुमार अरुण

पावरोटी

चीटियाँ कहीं भी पहुंच सकती हैं
चाहे पावरोटी तुम कहीं भी रखो

विस्मय होता है
और मन अजीब आतंक से भर जाता है
कि आखिर पावरोटी कहां रखी जाय

●

सायकल वाले का बेटा

सायकल वाले को बेटा तो हो गया
अब सोचता है इसका करे क्या

पैजामा सिलवाता है
सिर घुटवाता है
ओछे बुर्शर्ट और हवाई चप्पल पहनाता है
जिलेबी खिलाता/ पढ़ाता लाम काफ सिलेट पर
गिलास में पानी पिलाता
काजर के टीके और टोटके को बचा गमछी से
पोंछता है मुंह

हवा करता
टायर का पंक्चर साट्ता
फिर हवा करता है
घंटी बजाता ट्रिन्-ट्रिन्-ट्रिन्-ट्रिन्
लड़का हंसता है
तो सायकलवाला भी हंसता है

●

सुस्ती

अनमने
पलानी के बाँस से पीठ टिकाए
देर से
आधी धूप में
आँख मूँदे
सुनते चूं चरर-चरर
धीरे-धीरे घूमते
रब्बी पर
गोल-गोल
बैलों को

देर से
चेहरे पर
बैठी मक्खी
पंख सुखाती

गाँव में

❑

व्यंग्य

ज्ञान चतुर्वेदी

नंगों का शहर और लांड्री की दुकान

पिछले दिनों देश में बहुत-सी अप्रत्याशित घटनाएँ घटीं।

यहाँ 'देश' से मेरा तात्पर्य स्वयं अपने से है। हमारे मध्य प्रदेश तरफ स्वयं को ही देश मानने का रिवाज है। मामला कुछ इस तरह है कि मैं बढ़ा तो समझो कि देश भी बढ़ गया। मेरी जुगाड़ बैठी, देश खुशहाल हुआ। मेरी उचटकर लगी, देश नाचने लगा। मुझे पुरस्कार मिले, देश गौरवान्वित हुआ। मेरा बाप मरा, देश ने सिर घुटा लिया। मुझे मधुमेह हुआ, देश की शक्कर बंद हो गई। मैं जीता, देश में लोकतंत्र मजबूत हुआ। मैं हारा, देश पर अधिनायकवाद का खतरा मंडराने लगा। मैंने पी, देश बहका। मेरी छपी, देश में साहित्य बढ़ा। मेरी कमीज हमेशा ही देश की कमीज से ज्यादा सफेद रही। मेरे तोते में देश की जान कैद रहती है। मेरे साथ जो घटा, वही देश के साथ घटा— मैंने तो हमेशा ही यह माना है। मेरे देश में सभी मानते हैं। मैंने शुरू में ही निवेदन किया न।

मुझे अपने जीवन में अप्रत्याशित बातों की ऐसी आदत सी हो गई है कि यदि ये न घटें तो मुझे अप्रत्याशित लगता है। फिर यूँ भी हमारे यहाँ बहुत सा ऐसा अप्रत्याशित घटता रहता है, जो प्रत्याशित होते हुए भी अप्रत्याशित कहा जाता है। बूढ़ा नेता, जो कब्र में पैर, मरघट में पीठ तथा मुँह में आक्सिजन मास्क डाले महीनों से अस्पताल में लटका था, जब मरता है तो उसके विषय में यही कहा जाता है कि अमुक जी के अप्रत्याशित-निधन से देश स्तब्ध रह गया है। यह एक मायने में सच भी हो सकता है, क्योंकि कई बार ऐसे नेता मरने में इतना टाइम लगा देते हैं कि प्रत्याशित मौत भी अप्रत्याशित लगने लगती है। लगने लगा था कि अब यह पट्ठा नहीं मरने वाला। अभी खिंचेगा। अस्पताल की खटिया से ही राजनीति चलाएगा। तभी वह मर जाता है, तो झटका लगता है। वैसे भी हमारे जीवन में ऐसा बहुत सा अप्रत्याशित घटता रहता है, जिसके घटने पर झटका लगता है— सड़क पर निकले, कुचले नहीं गये; लड़की की शादी लगी थी, टूटी नहीं; शादी हो गई, लड़की जलाई नहीं गई; लड़की पैदा हुई, उसका गला नहीं मसका; बिल जमा करना था, बाबू सीट पर मिल गया; पुलिस वाला मिला, पिटे नहीं; खाना खाया, दस्त नहीं लगे; इंजेक्शन लगवाया, पका नहीं; गोली खाई, मरे नहीं, मर गए, बीबी को बीमे की रकम मिल गई, आदि आदि न जाने कितना अप्रत्याशित घटता रहता है भारतीय आम जन-जीवन में। परन्तु जिस अप्रत्याशित घटना से चकित था तथा उद्वेलित होकर मैं यह लेख लिखने बैठा हूँ, वह वास्तव में विशुद्ध रूप से अप्रत्याशित थी और उसके घटने पर वास्तव में मुझे तगड़ा झटका लगा है। एक पारिश्रमिक न देने वाली पत्रिका ने हाल ही में छपी मेरी रचना के पारिश्रमिक का चेक भेजा है और मैं स्तब्ध हूँ। कैसी अघट घटी है यह?

हिन्दी के लेखक को पारिश्रमिक मिलने लगा? एक साहित्यिक-पत्रिका पारिश्रमिक देने लायक बन गई? क्या मराल को मोती मिलने लग गए? चक्कर क्या है? विशुद्ध साहित्य करने वाले भी पैसा देने लायक औकात में आ गए, तो यह कलियुग नहीं तो फिर क्या है?

वरना, हिन्दी में साहित्य रचना करना नंगों के शहर में लांड्री की दुकान डालने जैसा है। कहा जाता है कि ग्राहक ही नहीं है इस माल के। हिन्दी साहित्य ही एकमात्र ऐसी अजीब धंधे वाली मंडी है, जहाँ माल डटकर तैयार हो रहा है और बिकवाली जीरो है। और फिर भी, माल न उठने के बावजूद लोग अपनी कलम की बैलगाड़ियों में रचनाएँ लादकर मंडी के द्वार पर न जाने कौन सी उम्मीद लगाए खड़े हैं। अपनी अप्रकाशित रचनाएँ लिए पत्रिकाओं-अखबारों-प्रकाशकों के फाटक पर खड़े हिन्दी के लेखक मुझे उत्तर प्रदेश के उन किसानों की भाँति दयनीय लगते हैं जो गन्नों से भरी बैलगाड़ियाँ लिए शक्कर के कारखानों के बंद फाटकों के सामने रात-रात भर पड़े रहते हैं। पुराने हिसाब का तकादा करने की हिम्मत नहीं होती और नया गन्ना बेचने के लिए वह गेट पर खड़ा रिरियाता रहता है। हिन्दी में लिखना ही अपने आप में कम जलालत का काम नहीं रह गया है। फिर, चलो, आप लिखते हो तो लिखो, लिखते रहो, परन्तु, लिखकर पैसे की उम्मीद करना तो और भी जलालत वाली हरकत मानी जाती है। गन्ने का पैसा मत मांगो। शक्कर उठ नहीं रही। किताबें बिक नहीं रहीं। पत्रिकाएँ मांगकर या चुराकर पढ़ने की प्रवृत्ति बढ़ी है। छापने वाले को मिलता ही क्या है यार? ग्यारह सौ किताबों का जो सेट छापा था आपका, सौ पाँच सो किताबें भी नहीं निकाल पाए सात साल में। बताइए! और आप रायल्टी का हिसाब मांगते हैं।। भाई साहब, हिन्दी में तो छपने को ही रायल्टी समझना चाहिए। जैसे कहते हैं न कि दुल्हन ही दहेज है, वैसा ही मामला समझिए। यहाँ तो कागज-स्याही का खर्चा भी निकाल सको तो बड़े लेखक कहलाओगे। शेष लेखकों को तो यह खर्चा भी अपनी टेंट से निकालना होता है। और कवियों को तो कागज-स्याही के अलावा चाय का खर्च भी करना होता है क्योंकि बिना चाय पिये कोई उनकी सुनता ही नहीं। कुछ अपनी गांठ से, कुछ उधार करके तथा कुछ बाप की जेब से मारकर ये खर्च निकालते हैं। हिन्दी का लेखक अपने बाप पर लानत सिद्ध होता है।

हिन्दी-प्रकाशन जगत का गणित उस बीजगणित या अलजबरा की तरह विचित्र है जो मुझे कभी भी समझ नहीं आया। प्रकाशन के बाजार में हिन्दी लेखक की छवि ही भिखारी की बन गई है। उससे उम्मीद की जाती है कि वह बढ़िया-बढ़िया भजन गाएगा, पर हमारे ठिये पर भीख नहीं मांगेगा। और, मांगेगा भी तो डरते-डरते दो-चार पैसे मांगेगा। और, न देने पर बुरा नहीं मानेगा बल्कि दुत्कार कर भगाने पर दुआएँ देता हुआ आगे चला जाएगा। 'आगे चलो बाबा'। भजन गाते, अपनी राह जाते भिखरी सबको अच्छे लगते हैं।

अभी पिछले महीने मैंने एक प्रकाशक से अपनी किताब की रायल्टी के विषय में पूछ लिया तो वे बहुत बुरा मान गए। कहने लगे कि हमें आपसे ऐसी घटिया हरकत की उम्मीद नहीं थी। आप जैसी ऊँची-ऊँची रचनाएँ लिखते हैं और फिर भी पैसा मांगने जैसा ओछा काम करते हैं। हद है साहब....। जब बुद्धिजीवी ही इस कदर गिर जाएँगे तो हम सेठ लोग कहाँ जाकर गिरेंगे...? उनकी बातें ऐसी थीं, मानों रायल्टी मांगकर मैंने गोहत्या-टाइप कोई पाप कर दिया हो। वे चकित थे कि मैंने ऐसी बेवकूफी की बात की तो की कैसे?

एक और स्वनामधन्य प्रकाशक ने हाल ही में मुझसे मेरे नए उपन्यास की पाण्डुलिपि मांगी, तो मैंने उनसे अग्रिम रायल्टी देने की मांग की। बात कुछ इस तरह हुई :

'सुना है कि आपने नया उपन्यास पूरा किया है...?'

'किया तो है....'

'हें हें हें...'

' — '

'वाह साहब, क्या बात है! सरस्वती बैठी है आपकी कलम पर।... हमें दीजिये, हम छापेंगे...'

'जरूर छापिये ... पैसे कितने देंगे?'

'हें हें हें.... आपको तो अपनी हिन्दी का पता ही है....। हिन्दी किताबों का ऐसा है कि....'

'पता है, तभी तो पूछ रहा हूँ कि कुछ अग्रिम देंगे कि...'

'बिकती ही कहाँ हैं हिन्दी किताबें....'

'आप गोली खाते हैं या इंजेक्शन लगवाते हैं?' मैंने पूछा।

वे अचकचा गये—

'क्या मतलब है साहब?'

'मतलब यह कि पागलपन के इलाज के लिए आप क्या लेते हैं?'

वे बुरा मान गए कि मैं उन्हें पागल करार किए दे रहा था।

'बिकती नहीं और आप छापते चले जाते हैं— यह पागलपन नहीं तो और क्या है?' मैंने कहा।

'हिन्दी की सेवा कर रहे हैं साहब... घर लुटा दिया हिन्दी की सेवा में...'

वे हिन्दी के इश्क में अपने लुट जाने की दास्तान सुनाने लगे। हिन्दी की सेवा को उन्होंने देश की सेवा से जोड़ा, हिन्दी की तुलना माँ से की, हिन्दी-लेखन को माँ की सेवा के समकक्ष बताया और अंततः यह सिद्ध किया कि अपनी माँ की सेवा-टहल करने वाले से ही पैसे मांगना कितनी बड़ी नीचता है। हिन्दी में किताबें छापने को उन्होंने तपस्या बताया, किताबों के दुकानदारों की राक्षसी प्रवृत्ति की चर्चा की और सरकारी खरीद का हठयोग समझाने का प्रयास करते हुए मुझसे पूछने लगे :

'आप कितनी किताबें निकलवा सकते हैं?'

'मैं समझा नहीं...'

'यार, पैसे मांगने को तो खूब दिमाग दौड़ता है और इत्ती सी बात आप नहीं समझ पाते?... भैय्या, यह अपना उपन्यास— आप कितनी कापियाँ इसकी बिकवा सकते हैं?'

'मैं कहाँ बिकवाऊँगा?' मैं आश्चर्यचकित था।

'कहीं भी... कैसे भी। आबकारी-विभाग में कोई यार-दोस्त या नाते-रिश्तेदार नहीं है क्या आपका? हो तो दारू की भट्टी पर ही हजार कापियाँ निकलवा देगा। हर पेटी पर एक किताब। या परिवहन में कोई आर.टी.ओ. वगैरह? चेक पोस्ट पर सब स्साले ट्रक वालों को पकड़वाओ दो-दो कापियाँ...'

'यह भी कोई बात हुई..'

'भैय्या, किताबें तो ऐसे ही बिकती हैं।' .... अभी हमने आपके ही एक कलक्टर साहब की किताब छापी थी। उन्होंने पूरी ग्यारह सौ प्रतियाँ चूना-भट्टों पर निकलवा दी और दूसरा संस्करण उठाकर कल ही ले गए हैं कि इसे पटवारियों के जरिए निकलवा देंगे...'

'मुझसे यह नहीं होगा...'

'फिर रायल्टी किस बात की मांग रहे हो यार? ... लिखने की भी स्साली कोई रायल्टी होती है...' वे हँसने लगे।

'मेरे पाठक खुद खरीदकर पढ़ेंगे...' मैंने गर्व से कहा।

'आपके पाठक उस पैसे से गांजा पी लेंगे, पर किताब नहीं खरीदनेवाले...'

वे मुझे समझाने लगे कि एक तो आपने यह स्साला हिन्दी में लिखकर ही ऐसा गलत काम किया है, उस पर से आप अपने इस शर्मनाक कार्य के लिए पैसे की मांग भी कर रहे हैं— इस अपराध के लिए आपको सौ कोड़े भी मारे जाएँ, तो कम है। कायदे से तो, कम से कम दौ

सौ पड़ने चाहिए। अंत में मुझे पुचकार कर उन्होंने समझाया कि हिन्दी में तो ऐसा है कि यह तो माँ सरस्वती की पूजा है। किए जाइए। रचते रहिए। लगे रहिए। देते रहिए। उधर आप सरस्वती को साधें इधर हम लक्ष्मी जी को पकड़ते हैं।

हिन्दी में यह भ्रम भी जान-बूझकर चालाकी से खड़ा किया गया है कि पैसा कमाने के लिए साहित्य लिखना फासिज्म है, प्रतिक्रियावादी क्रिया है, पूँजीवादी मानसिकता है और सेठों के हाथों में अपनी कलम बेच देने वाली हरकत है। मान लिया गया है कि पैसे मिलते ही लेखक सुविधाभोगी बन जाएगा। यदि उसे क्रांतिकारी बनाए रखना है, तो हमें उसको भिखमंगा रखना होगा। जब तक वह फटी चड्ढी तथा घिसी बनियान में न घूमे, वह कोई सार्थक रचनाकर्म नहीं करने वाला। भूख से लेखक का पेट जल रहा हो, तभी न वह धधकती रचना को जन्म देगा। जमीन से जुड़ी रचनाएँ निकलवानी हो तो हमें ऐसा पुख्ता इंतजाम करना होगा कि लेखक धूल में लोटे ताकि वह जमीन से सीधा जुड़ा रहे। वह पैदल चलेगा, तब न वह जमीन के ठोस कंकरीले यथार्थ से जुड़ेगा? कार या स्कूटर पर चढ़कर वह जमीन से कट जाएगा। हमें देखना होगा कि वह जमीन तो क्या, जमीन के गड्ढों से भी जुड़े। उसे गड्ढे में उतरना होगा। इससे फायदा होगा क्योंकि एक तो गड्ढे में उसे जमीन ज्यादा मिलेगी और दूसरे, गड्ढा खोदने पर मिट्टी भी खूब निकलती है। जितना चाहो, उतना अपनी मिट्टी से खुद को जोड़ो-सानो-पोतो, तो भी काफी मिट्टी फिर भी बची रहेगी। इसी सोच के तहत, हमारे तथाकथित बड़े हिन्दी लेखक भी जब किसी बड़े व्यवसासिक पत्र के संपादक बने हैं तो उन्होंने हमेशा ही मालिक के पैसे बचाने के लिए गरीब लेखक का पेट काटने का काम किया है। पता नहीं, क्या मानसिकता है?

और जो किताबें छापते हैं, उनका अपना मायाजाल है।

उनके अपने लटके-झटके हैं। वे लेखक को पुचकारकर बाड़े में लाते हैं और दूध दुहकर लतिया देते हैं। न जाने कितनी छापते हैं, कितनी बेच लेते हैं, कितनी बिकी बताते हैं और कितनी छुपाते हैं। साठ पेज की कविता की किताब, जिसकी कविताओं को यदि शराफत से छापा जाए, तो किताब बीस पेज की भी न बन पाए, इसे दो सौ रुपयों में बेचना चाहते हैं और फिर रोते हैं कि अच्छे पाठक हिन्दी में हैं ही नहीं। सरकारी खरीद के कबाड़खाने के लिए तैयार की जा रही ये बहुमूल्य किताबें इस मायने में बहुमूल्य हैं कि इनका मूल्य अनाप-शनाप रखा गया है। हिन्दी पाठक को गांठ का पूरा माना जा रहा है। या शायद 'पाठक हमारे ठेंगे पर, हम तो हैं सरकार के...' वाला मामला है। पता नहीं। और मजा यह है कि इस सरकारी खरीद की रायल्टी भी लेखक को देने की मंशा नहीं है किसी की। कम्पोजिटर को पैसे दिए जाएंगे। कागज-स्याही-जिल्द बांधनेवाले-प्रिंटर को भी पैसे दिए जाएंगे। जिस ठेले पर लदकर ये किताबें जा रही हैं, उसे भी पैसे दिए जाने हैं। इनमें से किसी से नहीं कहा जाएगा कि साहब, यह तो माँ भारती की सेवा है, साहित्य-साधना है, सो पैसे मत मांगिए। कहेंगे तो जूते खा जाएंगे। परन्तु लेखक को, जिसकी रचना पर ही यह सारा ताम-झाम खड़ा है, कोई भी पैसे नहीं देना चाहता। हिन्दी लेखक की छवि उस लावारिस बकरी की तरह बन गई है, जिसको पकड़कर कोई भी शख्स दूध निकाल सकता है। हिन्दी किताबों के प्रकाशन, वितरण, बिक्री, हिसाब-किताब, रायल्टी आदि में एक बड़ा चारा-घोटाला छुपा है। छुपा भी क्या है, सब कुछ सामने है और सीनाजोरी से किया जा रहा है। मैंने बड़े तथा समर्थ लेखकों को रोते हुए देखा है कि फलाना प्रकाशक पैसे खा गया, फलाने ने रायल्टी का हिसाब गलत दिया और उसने तो तकादे के पत्रों का जवाब ही देना बंद कर दिया है।

एक अंतिम निवेदन अपने लेखक मित्रों से।

पाठक नाम की भी एक शै होती है, जो लेखक के जीवन का सबसे महत्त्वपूर्ण हिस्सा होती है— यह बात हम 'हिन्दी साहित्य करने वाले' जितनी जल्दी समझ जाएं, बेहतर होगा। अभी जो हमारा जोर कलावादी कलाकारों की अमूर्तता पर हो रहा है, उस ओर पाठक झांकता भी नहीं। हिन्दी में अपने पाठकों को उल्लू का पट्ठा मानने का जैसा रिवाज है वैसा और किसी भी भाषा में नहीं। हमें पाठक की परवाह नहीं। हम कुछ भी अंट-संट लिखेंगे— तुम्हें समझ में आए तो ठीक, न आए तो और भी ठीक। हाथी दांत की ऊँची मीनार पर अधलेटा आत्ममुग्ध हिन्दी लेखक अपने मन की किए चला जा रहा है। वह बर्दाश्त करने को तैयार नहीं है कि कोई उससे पूछे कि बेट्टा, यह तू क्या बेवकूफी किए जा रहा है? शायद ऐसी ही मानसिक अय्याशी और कलावादी दिमाग के चलते हमारे आदरणीय अफसर-कम-कवि, जो कवि-कम-अफसर-ज्यादा हैं, ने फतवा दिया है कि एक अमूर्त पेंटिंग में जब आप विषय नहीं खोजते या उसका अर्थ नहीं पूछते, तो कविता में अर्थ खोजने का प्रयास करना बेचारे कविराज पर जुल्म है। हम ऐसी कविता करेंगे, जिसका कोई अर्थ नहीं। हम स्वान्तः सुखाय रचेंगे। हम कुछ तो भी गोदेंगे। हम कागद कोरे काले करेंगे। हम हिन्दी साहित्य से पाठकों का मुँह काला कर देंगे। हम सरकारी खरीद के बूते पर कविता को वहाँ पहुँचा देंगे, जहाँ से खुद को खुद की खबर नहीं आती।

पाठकों के प्रति ऐसी वितृष्णा!

पाठकों के खिलाफ ऐसी बारूदी सुरंगें और किसी भाषा में नहीं बिछाई गईं। यहाँ किसी लेखक का अपने पाठकों के बीच लोकप्रिय होना उसे घटिया बनाता है। एक अच्छा लेखक यदि पापुलर भी हो जाए, तो बेचारा मुँह छुपाए घूमता है। पाठकों से इस तरह का संबंध हिन्दी वाले अवैध संबंध की भाँति त्याज्य तथा निंदनीय मानते हैं।

ऐसी भाषा का लेखक क्या तो पैसे की आशा करे और क्योंकर करे?

इसीलिए ऐसी भाषा का अदना सा लेखक, मैं, यदि किसी महान साहित्यिक-पत्रिका से चेक पाकर अभिभूत हूँ, तो आश्चर्य कैसा? ऐसा लगा, जैसा पुराने कोट की अंदर की जेब में यूँ ही हाथ डालते हुए अप्रत्याशित रूप से पुराना कोई नोट मिल जाने पर लगता है। जैसे किसी ने ऐसा उधार चुका दिया हो, जिसे आप डूबा हुआ मानकर भूल चुके थे। मानो चांद आ गया हो मुट्ठी में। मानो तीखी दोपहर में इंद्रधनुष तन जाए। एक साहित्यिक-पत्रिका से चेक पाकर मैं न जाने किन-किन भावनाओं से गुजर गया। चेक पर लिखी इबारत के काले अक्षर मानों उमड़-घुमड़ कर मन पर छा गए...। ❑

अमृतलाल नागर के दो ऐतिहासिक महत्त्व के पत्र रामचन्द्र तिवारी के नाम

चौक, लखनऊ
4-8-79

प्रिय तिवारी जी
नमस्कार!

यह आपका दूसरा कृपा पत्र मिला। आपने पहले जो पत्र भेजा था वह कहीं कागजों के जंगल में, जो मेरे तख्त के इर्द गिर्द ही उगता है, खो गया। उसके खो जाने से मैं बहुत दु:खी था कारण कि आपने काम की बातें पूछी थीं। गोरखपुर से चि. दयानन्द पाण्डेय यहाँ आया था। मैंने उससे भी कहा कि आप तक मेरी बात पहुँचा कर आपसे दूसरा पत्र भेजवा दे। अस्तु!

शवर या शबर एक पहाड़ी आदिवासी जाति। वर्बर। पॉलेमी (Pholemy) के अनुसार : Towards the Ganges are the Sabarai (शबर) in whose country the diamond is found in great abandance. कनिंघम ने मध्य प्रदेश में सम्भलपुर का क्षेत्र हीरों और शबरों का माना है। ग्रियर्सन ने इनकी भाषा को मुंडा परिवार की बतलाया है। इनकी मुखाकृति में मंगोल प्रभाव मिलता है। राहुलबाबा ने 'मध्य एसिया का इतिहास' में मध्य एसिया से मुंडा खसी जातियों को हराकर निकाले जाने का हवाला दिया है। यह शबर तंत्र के प्रयोग करते थे। पं. गोपीनाथ कविराज ने 'शबरी तंत्र' का उल्लेख किया है। अपने बचपन में महल्ले के पंडितों से मैंने 'साबड़' मंत्र और तंत्र की बातें सुनी है। यह भी सुना है कि डोम मेहतर इसका प्रयोग करते थे।

डोम, डोम्ब, डोमर्रा 'डुम्ब' शब्द से निकला है। डुम्ब दानव माने जाते हैं। संगीत में एक डुम्ब मत भी है, इससे लगता है कि संगीत में इनकी गहन रुचि रही है। नवाबी, शाही जमाने में डोमनियों के गाने की धूम थी। इन डोमों में बहुत से लोग पराजित होकर भारत से भाग भी गए थे। जो बचे वह अस्पृश्य और नीच घोषित हुए। एक कारण यह भी था कि यह लोग गोमांस भक्षण करते थे। उत्तर भारत से दक्षिण भारत तक डोम्ब मिलते हैं। रायकृष्णदास जी ने एक बार मुझे बतलाया था कि इटली का रोम नगर इन्हीं के नाम पर बसा है। डोम्ब= डोम= रोम (देखिये मेरी पुस्तक 'ये कोठेवालियाँ') इस जाति की दो विशेषताएँ और भी बखानी जाती हैं— चोरी और शराब की लत। लोक कथाओं में डोम राजकुमारी के उड़ाए जाने की बात तो है ही, रायबहादुर लाल सीताराम बी. ए. ने अयोध्या के इतिहास में यह उल्लेख भी किया है कि डोमगढ़ का राजा किसी ब्राह्मण कन्या को भगा ले गया था। अयोध्या के एक कायस्थ ने राजा को पराजित करके उस कन्या को मुक्त करवाया। प्रसन्न होकर ब्राह्मण ने अपना जनेऊ उस वीर कायस्थ के गले में डाल दिया। कविवर बच्चन जी ने 'आत्मकथा' में अपने को उसी श्रीवास्तव 'पांडे' का वंशधर बतलाया है। इनकी स्त्रियाँ भी जादू-टोने में बड़ी पक्की होती थीं। अपमान का बदला छोटा हो या बड़ा, लेता ही है।

श्वपच और चांडालों का वर्णन भरतरत्न पी.वी.काणे लिखित धर्म-शास्त्र के इतिहास में है। असल में हिन्दू काल में इन लोगों से पाखाना उठाने का काम नहीं लिया गया। हाँ, अपनी गंदी आदतों से यह सभ्य समाज में सम्मिलित नहीं किए गए। गोमांस भक्षण भी कदाचित् इन्हें समाज के निम्न वर्ग में रखने का विशेष कारण बना।

जहाँ तक योग विद्या से डोमों को जोड़ने का संबंध है। मैं वर्षों से इस बात में विश्वास करता हूँ कि गुलामों की सहनशीलता ने ही इस विद्या की ईजाद की। राम के काल में एक शूद्र

योगी की हत्या कर दी गई थी। यहां 'शूद्र' शब्द का प्रयोग मेरी समझ से ऐसे लोगों के लिए नहीं किया गया जिनके हाथ का पानी सवर्ण लोग ग्रहण कर लेते हैं।

मैं आपकी इस बात से सहमत हूँ कि वाममार्गी तांत्रिकों ने तथाकथित निम्न जातियों का उपयोग अपनी मंत्र साधना में किया था। नाथों-सिद्धों में डोम जाति के लोगों का होना भी नकारा नहीं जा सकता।

मल ढोने का काम मुसलमान काल में कुछ अस्पृश्य और पराजित क्षत्रिय जातियों से लिया गया। आगरे में मैंने शेख मेहतरों से भी भेंट की थी। यह लोग कदाचित् ताजिकिस्तान और अफगानिस्तान से पकड़ कर लाए गए थे। यह भारतीय भंगियों से अपने को श्रेष्ठ मानते हैं। मेहतर चित्राल (पाकिस्तान) के पराजित राजवंशी हैं। चित्राल के नवाब को आज भी मेंडा कहा जाता है।

आशा है आपके प्रश्नों के उत्तर मैंने संतोषजनक रूप से ही दिए हैं और जो जानना चाहें, निःसंकोच लिखें।

आजकल महात्मा सूरदास पर काम कर रहा हूँ।

आशा है आप सानन्द होंगे

सप्रेम आपका
अमृतलाल नागर

चौक, लखनऊ
24-8-79

प्रियवर तिवारी जी

नमस्कार!

आपका 20 अगस्त का पत्र मिला। डोम शक्तिशाली जाति के लोग तो नहीं लगते, हाँ, यह अवश्य अनुमान होता है कि वे बड़े संगीत प्रिय, साफ-सुथरे और सरल, मनमौजी लोग थे। पाकिस्तान में एक स्थान चितराल है। संभवतः उसका पुराना नाम चित्रालय रहा होगा। वहाँ का शासक 'महत्तर' कहलाता था। तभी आज तक वहां का शासक 'मेहतर' कहलाता है और प्रारंभिक तुर्की लुटेरों ने उन्हें पराजित करके उनसे हीनतम काम करवाया होगा तभी से यह शब्द भंगीवाचक बना। क्या अच्छा व्यंग्य है कि महत्तर मनुष्य लघुतम बनाया गया। योग और तंत्र विद्या से दोनों का कुछ नाता अवश्य रहा और यह काफी प्राचीन भी लगता है। बनारस में मसानों का कर लेनेवाले डोम राजा का वंशज आज भी प्राणायाम आदि विद्याओं में निपुण होता है। कुछ जादू टोने या तांत्रिक शक्तियों के प्रयोग भी वह जानता है। यह परम्परा सिद्ध करती है कि उसके परिवार में सदियों से चली आ रही होगी। यहाँ पर मैं एक बात स्पष्ट कर देना चाहता हूँ कि डोम चौधरी के हाथों सत्यवादी राजा हरिश्चंद्र के बिकने की कथा मेरे विचार से पूर्णतया कपोलकल्पित है। काशी का हरिश्चंद घाट लगभग 11वीं-12वीं सदी से अपना इतिहास रखता है। यह बात मुझे स्व. पं. हजारी प्रसाद जी द्विवेदी ने बतलाई थी। मुझे लगता है कि आप इस विषय पर कोई पुस्तक लिखने की योजना बना रहे हैं। मेरी शुभकामनाएँ स्वीकारें। पिछली चार अगस्त से मैं ज्वरग्रस्त हुआ। कुछ बाएँ गुर्दे में भी पीड़ा रही। पन्द्रह दिन कष्ट भोग कर अब रोग मुक्त तो अवश्य हो गया हूँ किन्तु कमजोरी अब भी काफी है। इस बार लम्बा झटका खाया। लगता है यह बीमारी बुढ़ापे के नकीब की तरह 'बा-अदब बा मुलाहजा होशियार' गोहराती हुई ही मुझे सावधान करने आई थी। जो हो हम आने वाले हर क्षण के लिए अपने आपको ढाल रहे हैं।

आशा है सानन्द सकुशल होंगे।

सप्रेम आपका
अमृतलाल नागर

बर्नाड मालामड : 26 अप्रैल 1914, ब्रूक्लीन (न्यूयार्क)। प्रकाशन : (उपन्यास) द नेचुरल (1952), द असिस्टेंट (1954), द फिक्सर (1966), पिक्चर्स आफ फाइडल मैन (1969), द टेनेन्ट्स (1971), डूबिन्स लाइव्ज (1979), गोल्ड्स ग्रेस (1982) तथा चार कथा संग्रह प्रकाशित। देहावसान : 18 मार्च 1986 (न्यूयार्क)। मालामड ने द्वितीय कोटि का उपन्यास नहीं लिखा। उनकी कहानियाँ कथा विधा की आदर्श होती हैं। वे हर रचना को तीन बार लिखते थे। पहली बार खुद समझने के लिए, दूसरी बार गद्य को बेहतर बनाने के लिए और तीसरी बार सार्थकता प्रदान करने के लिए। - संपादक

बर्नार्ड मालामड

रूपांतर : हसन जमाल

पहले सात बरस

जूते बनाने वाला फील्ड नाराज था कि उसका मददगार सोबल जो दूसरी बेंच पर अपना काम कर रहा है उसकी तरफ ध्यान ही नहीं दे रहा है और थोड़ी देर के लिए भी अपनी ठक-ठक बंद नहीं कर रहा है। उसने सोबल की तरफ देखा। लेकिन उसका गंजा सिर अपने काम पर झुका हुआ था। इसलिए वह महसूस नहीं कर सका। फील्ड ने झुरझुरी ली और आधे-अधूरे मन से कोहरे में घिरी खिड़की से फरवरी की बर्फबारी से पैदा हुई धुंध को देखता रहा। लेकिन न तो उस धुंध ने और अपने बर्फीले गाँव की याद ने उसका ध्यान भंग किया। उस वक्त वह कॉलेज के छात्र मैक्स के बारे में सोच रहा था जिसे उसने पहले पहल एक बर्फीली सुबह स्कूल जाते देखा था। जो उसी दिन से उसके ध्यान में बस गया था। वह मैक्स की इसलिए कद्र करता था कि उसने सालोंसाल गर्मी-सर्दी की परवाह किए बिना अपनी तालीम पूरी करने के लिए दुख उठाए थे।

फील्ड की पुरानी टीस फिर उभर आई... काश! वह बेटी के बजाय एक बेटे का बाप होता... लेकिन यह इच्छा बर्फ में घुल गई, क्योंकि उसकी बेटी ने उसका कहा नहीं माना। जब उसने उसे कॉलेज भेजना चाहा, तो उसने साफ इन्कार कर दिया कि वह नौकरी करना पसंद करेगी, बजाय कॉलेज जाने के। उसने बेटी को लाख समझाया कि लोग गरीबी की वजह से अपने बच्चों को कॉलेज नहीं भेज सकते, वह भाग्यवती है। लेकिन लड़की ने कहा कि वह अपने पैरों पर खड़ी होना चाहती है। जहाँ तक तालीम का मामला है... तालीम क्या है सिवा किताबों के पढ़ने के। सोबल दिल लगा कर क्लासिक्स पढ़ता रहता है। वह उससे सलाह-मशवरा लेती रहेगी। बेटी के इस दो टूक जवाब पर बाप को बहुत रंज हुआ।

बर्फ से एक आकृति उभरी और दूकान का दरवाजा खुला। उस आदमी ने काउंटर पर पहुँच कर गीले कागजी थैले में से घिसे हुए जूतों का जोड़ा निकाला जो वह मरम्मत कराने के लिए लाया था। फील्ड उसे पहचान नहीं सका। लेकिन अचानक उसे खयाल आया कहीं यह मैक्स तो नहीं। उसका दिल तेजी से धड़कना शुरू हो गया। हालांकि वह मैक्स की बातें सुन रहा था, लेकिन एक शब्द भी उसकी समझ में नहीं आ रहा था। वह इतना घबरा गया।

उसे ठीक तरह याद नहीं, यह खयाल उसके दिमाग में पहले पहल कब आया कि उसकी बेटी मरियम को मैक्स के साथ बाहर जाना चाहिए— घूमने-फिरने। यह बात वह कई बार सोच चुका था और हर बार उसे लगता कि कहीं मैक्स इन्कार न कर दे। मरियम भी मान जाएगी, यह भी जरूरी नहीं था। हालांकि वह हर वक्त आज़ादी का राग अलापती रहती है। अब मौका मिला है, तो इसे हाथ से नहीं गंवाना चाहिए। अगर ये पहले मिल चुके होते, तो बहुत पहले दोस्त बन चुके होते। इसलिए दोनों को मिलाना उसका फर्ज ही नहीं, जिम्मेदारी भी है और इसमें कुछ नुकसान भी नहीं है। बस, मैक्स को सिर्फ एक बार मरियम से मिलने और बात करने का मौका मिलना चाहिए। वह यकीनन उसमें दिलचस्पी लेने लगेगा। जहाँ तक मरियम का संबंध है, वह एक दफ्तरी लड़की है जिसका वास्ता ऊँची आवाज में बोलने वाले सेल्समैनों और जाहिल शिपिंग क्लर्कों से होता है। एक नफीस पढ़ाकू लड़के से परिचित होने में क्या हर्ज है? हो सकता है, मैक्स उसके दिल में कॉलेज जाने की इच्छा जगा दे, भले ही उसे एक शिक्षित व्यक्ति से शादी करके बेहतर जिंदगी गुज़ारने का मौका न दे।

जब मैक्स मरम्मत के बारे में बता चुका तो फील्ड ने जूतों के तलों पर जिनमें बड़े-बड़े छेद थे— सफेद चॉक से 'एक्स' की शक्ल के निशान लगा दिए और रबड़ की एड़ियों पर जो बिलकुल घिस चुकी थीं, 'ओ' की शक्ल के। हालांकि वह इस बात से फिक्रमंद था कि कहीं उसने निशान अदल-बदल न कर दिए हों। मैक्स ने मेहनताना पूछा, तो फील्ड ने अपना गला साफ करते हुए उसे बगली दरवाजे से आन्दर हॉल में चलने की दावत दी। सोबल की ठक-ठक बदस्तूर जारी थी। मैक्स हैरान था फिर भी उसने दावत कबूल कर ली। फील्ड भी उसके पीछे-पीछे अंदर आ गया। दोनों एक मिनट तक चुप रहे, क्योंकि सोबल ने अपनी ठक-ठक बंद कर दी थी। ऐसा मालूम होता था कि वे दोनों इस इंतजार में हों कि ठक-ठक दोबारा शुरू हो जाए। ठक-ठक जोरदार आवाज से दोबारा शुरू हई तो फील्ड ने जल्दी-जल्दी मैक्स को बताया कि वह उससे क्यों बात करना चाहता है।

'जब से तुमने हाई स्कूल जाना शुरू किया', उसने नीम रोशन राहदारी में कहा, 'मैं हर सुबह तुम्हें स्कूल के लिए सब-वे की तरफ जाते देखता रहा हूँ और हमेशा खुद से कहता रहा हूँ कि यह कितना अच्छा लड़का है जिसे पढ़ने की इतनी फिक्र है।'

'शुक्रिया' मैक्स ने कहा। वह बौखलाकर चौकन्ना हो गया था। वह लंबा और भद्देपन की हद तक दुबला था। उसके नैन नक्श तीखे थे, खास तौर पर उसकी नाक चोंच जैसी थी। वह एक नीला व ढीलाढाला लंबा ओवरकोट पहने था जो उसके टखनों तक पहुँच रहा था जैसे किसी ने उसके दुबले-पतले कंधों पर कालीन लटका दिया हो। उसने भूरे रंग का एक पुराना हैट पहन रखा था जो नमी से सीला हुआ था और उतना ही खस्ता था जितने उसके मरम्मत तलब जूते।

'मैं एक कारोबारी आदमी हूँ', फील्ड ने अपनी परेशानी छुपाते हुए कहा, इसलिए तुमसे साफ-साफ बात करूंगा। मेरी एक बेटी है मरियम जो उन्नीस साल की है। बहुत अच्छी लड़की है

और खूबसूरत भी। ऐसी खूबसूरत कि जब गली से गुजरती है, तो हर कोई उसे देखने लगता है। जहीन है। हर वक्त किताबें पढ़ती रहती है। मैंने सोचा, तुम जैसा पढ़ा-लिखा लड़का... मैंने सोचा, हो सकता है; तुम उस लड़की से मिलने में दिलचस्पी लो।'

अपनी बात खत्म करके वह थोड़ा-सा हँसा। उसे कुछ और कहने की इच्छा हुई, लेकिन विवेक ने उसे रोक दिया।

मैक्स बाज़ की तरह नज़रें नीचे गाड़े रहा। वह एक खलने वाली देर तक चुप रहा। फिर उसने पूछा, 'आपने क्या उम्र बताई— उन्नीस साल?'

'क्या यह पूछना उचित होगा कि आपके पास उसकी कोई फोटो है?'

एक मिनट। 'फील्ड अंदर दूकान में गया और एक फोटो ले आया। मैक्स ने फोटो को रोशनी की तरफ करके देखा।' 'बहुत खूब'। उसने कहा।

फील्ड इंतजार करता रहा।

'क्या वह समझदार भी है? दुल मिल किस्म की तो नहीं?'

'मरियम बहुत समझदार है।'

थोड़ी देर सोचने के बाद मैक्स ने कहा कि उसे मरियम से मिलने में कोई एतराज नहीं।

'यह मेरा फोन नम्बर है', फील्ड ने उसे जल्दी से कागज का पुर्जा थमाते हुए कहा, 'उसे फोन कर लेना। वह छह बजे दफ्तर से लौट आती है।'

मैक्स ने कागज का पुर्जा तह करके अपने घिसे हुए चमड़े के बटुए में रख लिया।

'जूतों के बारे में'। उसने पूछा, 'आपने क्या कहा था, कितने पैसे लगेंगे?'

'पैसों की फिक्र मत करो।'

'फिर भी मैं जानना चाहता हूँ।'

'एक डालर... एक डालर पचास सेंट।' फील्ड ने जवाब दिया।

उसे अचानक बुरा महसूस हुआ, क्योंकि आमतौर पर वह इस तरह के काम के दो डालर पच्चीस सेंट लेता था। उसे या तो पूरे पैसे लेने चाहिए थे या फिर काम मुफ्त में कर देना चाहिए था।

बाद में वह दूकान में दाखिल हुआ तो एक तेज आवाज सुनकर भौंचक्का रह गया। उसने देखा कि सोबल खाली फर्मे को कूट रहा है। फर्मा टूट कर फर्श पर गिरा और फिर उछल कर दीवार से जा टकराया। लेकिन इसके पहले कि फील्ड उस पर गरजता-बरसता, वह खूँटी से अपना हैट और कोट उतार कर तेज़ी से बाहर बर्फ में निकल गया।

इस तरह फील्ड अपनी बेटी और मैक्स के संबंधों के बारे में सोचने के बजाय सख्त परेशानी में पड़ गया क्योंकि सोबल के बिना उसका व उसकी दूकान का कोई मतलब नहीं था और सोबल था बहुत नाजुक मिज़ाज आदमी। अकेले दूकान चलाए हुए उसे जमाना हो चुका था। बरसों से वह दिल का मरीज था। मेहनत का काम नहीं कर सकता था। पाँच साल पहले जब उसे दिल का दौरा पड़ा था तो ऐसा लगता था; उसे अपना कारोबार नीलाम करके थोड़े में गुजर-बसर करनी होगी या फिर कामचोर व बेईमान नौकर के हवाले छोड़ना पड़ेगा जो एक दिन उसे तबाह कर देगा। लेकिन निराशा के उन्हीं दिनों में पोलैंड का एक शरणार्थी सोबल एक रात अचानक प्रकट हुआ और उसने नौकरी मांगी। उसके कपड़े नाकाफी थे। जिस्म भारी-भरकम। उसका सिर, जिस पर कभी सुनहरे बाल थे, बिल्कुल गंजा हो चुका था और चेहरा एकदम सपाट। उसकी हल्की नीली आँखें उदास किताबों की तरह रुआंसी-सी थीं। वह जवान होते हुए भी बूढ़ा लगता था। कोई उसे तीस बरस का नहीं कह सकता था। उसने पहले ही बता दिया कि वह जूतों का काम नहीं जानता। अगर फील्ड ने उसे यह हुनर सिखा दिया, तो वह बहुत कम तनख्वाह पर काम करेगा। फील्ड ने यह सोच कर

कि यह आदमी अपने वतन का है, उसे काम पर रख लिया और छह हफ्तों के अंदर-अंदर वह जूतों की उतनी ही अच्छी मरम्मत करने लगा जितनी खुद फील्ड और उसके बाद उसने फील्ड का सारा कारोबार संभाल लिया।

फील्ड उस पर हर मामले में भरोसा कर सकता था। वह दूकान में घंटा, दो घंटा गुजार कर अक्सर घर चला जाता। वह सारी रकम गल्ले में छोड़ जाता था, क्योंकि उसे विश्वास था कि सोबल एक-एक सेंट की हिफाजत करेगा। हैरान करने वाली बात यह थी कि वह बहुत कम रकम तलब करता था। उसकी जरूरतें भी कम थीं। पैसे से तो उसे दिलचस्पी थी ही नहीं। ऐसा लगता था कि किताबों के सिवा— जो वह एक-एक करके मरियम को पढ़ने के लिए दिया करता था— उसे किसी भी चीज से दिलचस्पी नहीं है। किताबों के साथ उसके अजीबागरीब नोट्स भी होते, जिन्हें वह अपने कमरे में तन्हा शामों में लिखा करता था। यह टिप्पणियाँ, जो मोटे पुलिंदों की शक्ल में थीं, मरियम चौदह साल की उम्र से बड़े ध्यान से पढ़ा करती जैसे वह पाक किताब हो। फील्ड उचक कर देखने की कोशिश करता, लेकिन मरियम के पीछे कंधे उचका कर रह जाता।

वह सोबल का बहुत खयाल रखता था और कुछ ज्यादा ही देता था। फिर भी उसके मन में कचोट रहती कि सोबल उससे ज्यादा क्यों नहीं मांगता? हालांकि उसने सोबल से कह रखा था कि वह अतिरिक्त आय के लिए कहीं और काम कर सकता है या फिर अपनी दूकान खोल सकता है। लेकिन सोबल ने अक्खड़ लहजे में जवाब दिया कि वह कहीं और जाने में दिलचस्पी नहीं रखता। फील्ड अपने आप से अक्सर सवाल करता, यह यहाँ क्यों टिका हुआ है? आखिर इसे क्या चीज रोके हुए है?और आखिरकार उसने इसका जवाब यह ढूंढा कि बेचारा शरणार्थी है। इसे कटु अनुभवों से गुजरना पड़ा है, अपना वतन छोड़ना पड़ा है। इसलिए पनाह चाहता है और कुछ नहीं।

फर्मा टूटने की घटना के बाद नाराज फील्ड ने तय किया कि उसे हफ्ते भर के लिए अपने हाल पर छोड़ दिया जाए और उसने ऐसा ही किया। लेकिन इस दौरान उसे इतनी मेहनत करनी पड़ी कि फिर बीमार होने का अंदेशा पैदा हो गया। कारोबार भी प्रभावित हुआ। अपनी बीबी व बेटी के आग्रह पर उसे सोबल को ढूँढने निकलना पड़ा। यह तलाश भी पहले की तरह थी। पहले भी वह मामूली-सी बात पर बिगड़ कर चला गया था। फील्ड ने उसे सिर्फ इतना कहा था कि वह मरियम को इतनी किताबें न दिया करे, क्योंकि उसने पढ़-पढ़ कर अपनी आँखें लाल कर ली हैं। उसके कहने-सुनने पर सोबल लौट आया था और बेंच पर अपनी खाली जगह संभाल ली थी। लेकिन इस बार जब वह बर्फ में धंसता हुआ सोबल के घर पहुँचा, तो बातूनी मकान मालकिन ने, जो नाक में बोलती थी, उसे दरवाजे पर बताया कि वह घर पर नहीं है। फील्ड समझ गया कि यह झूठ है। आखिर सोबल कहाँ जा सकता था? फिर भी ठंड या थकान की वजह से वह लौट आया और एक नया नौकर रख लिया। उसने मरियम को सोबल के पास भेजने के बारे में भी सोचा, लेकिन उसे यह खयाल घिनौना लगा।

इस तरह उसने मामला एक हद तक निपटा लिया था, लेकिन अब उसे पहले से ज्यादा काम करना पड़ता था और वह सुबह को देर तक बिस्तर में नहीं रह सकता था। यह नया आदमी गहरी रंगत वाला एक घुन्ना शख्स था, जो काम करते वक्त बड़बड़ाता रहता था। फील्ड को उसकी बड़बड़ाहट पर गुस्सा आता था। वह सोबल की तरह चाबी उसके हवाले नहीं कर सकता था। इसके अलावा यह आदमी मरम्मत का अच्छा काम जानने के बावजूद चमड़े के दरजों या कीमतों के बारे में नहीं जानता था। इसलिए खरीददारी भी फील्ड को खुद करनी पड़ती थी और हर रात दुकान बंद

करने से पहले गुल्ले में मौजूद रकम गिनना भी जरूरी था। फिर भी वह थोड़ा सा संतुष्ट था और ज्यादातर मैक्स और मरियम की बावत अपने विचारों में खोया रहता था। मैक्स मरियम से मिला था और उन दोनों ने आने वाले शुक्रवार की रात मुलाकात तय की थी। वह जाती तौर पर शनिवार को तरजीह देता जिससे उसके विचार से उस मुलाकात की अहमियत बढ़ जाती, लेकिन उसे मालूम था शुक्रवार खुद मरियम ने पसंद किया था। इसलिए वह चुप रहा। दिन की कोई अहमियत नहीं थी। अहमियत तो बाद की घटनाओं की थी। क्या वे एक दूसरे को पसंद करेंगे और दोस्त रहना चाहेंगे? इस सवाल का जवाब पाने के लिए वक्त चाहिए था और वह वक्त उस पर भारी था। मरियम से मैक्स के बारे में बात करने की उसे अक्सर ख्वाहिश होती। वह पूछना चाहता था कि क्या मैक्स उसे पसंद आएगा? खुद उसने मरियम को सिर्फ इतना बताया था कि वह मैक्स को अच्छा लड़का समझता है और उसी ने प्रस्ताव रखा था कि वह मरियम से मिले। लेकिन जब एक बार उसने पूछने की कोशिश की, तो मरियम ने उसकी बात काट दी। ठीक भी था। आखिर वह अभी से क्या बता सकती थी?

आखिरकार शुक्रवार आ गया। फील्ड अपने आपको अच्छा महसूस नहीं कर रहा था, सो वह बिस्तर में ही रहा और उसकी बीवी भी बेड रूम में रही। मरियम ने ही मैक्स का स्वागत किया। उसके माँ-बाप उन दोनों की बातें करते सुन सकते थे। मैक्स की आवाज भारी होने की वजह से साफ सुनाई देती थी। जाते वक्त मरियम उसे बेडरूम के दरवाजे पर लाई। उसका लंबा शरीर जिस पर ढीला-ढाला सूट था, पल भर को दरवाजे में रुका। वह देखने में आश्वस्त मालूम होता था। उसने फील्ड और उसकी बीवी की खैरियत पूछी जो एक अच्छी बात थी। गो मरियम दिन भर की थकी हुई थी मगर फिर भी ताजा दम और खूबसूरत नजर आ रही थी। वह संतुलित शरीर वाली लड़की थी। उसका चेहरा प्यारा और बाल नर्म थे। फील्ड की निगाह में वे दोनों एक मिसाली जोड़ा थे।

मरियम साढ़े ग्यारह बजे के बाद लौटी। उसकी माँ सो चुकी थी, लेकिन फील्ड बिस्तर से उठा और अपनी बाथरोब पहनने के बाद किचन में गया जहाँ मरियम मेज पर बैठी पढ़ रही थी। वह यह देख कर चकित रह गया।

'तुम लोग कहाँ गए थे?' उसने खुशगवार लहजे में पूछा।

'चहलकदमी करने' मरियम ने नजरें उठाए बिना जवाब दिया।

'मैंने उसे कह दिया कि...' वह गला साफ करते हुए बोला, वह ज्यादा पैसे खर्च न करे।

'मैंने गौर नहीं किया।'

फील्ड ने चाय के लिए पानी उबाला और प्याली और नींबू की एक मोटी फांक लेकर मेज पर बैठ गया, 'सो तुम्हारी तफरीह', उसने चुस्की लेकर आह भरी, 'कैसी रही?'

'ठीक थी।'

फील्ड खामोश हो गया। मरियम ने यकीनन उसकी मायूसी का अंदाजा लगा लिया होगा, वह बोली, 'पहली मुलाकात में क्या कहा जा सकता है।'

'उससे फिर मिलोगी?'

मरियम ने पन्ने उलटते हुए बताया कि मैक्स ने एक और मुलाकात के लिए कहा है।

'किस दिन?'

'शनिवार को।'

'तुमने क्या कहा?'

'मैंने क्या कहा?' मरियम ने सवाल दोहराया और पल भर रुक कर बोली, 'मैंने हामी भर ली '

इसके बाद मरियम ने सोबल के बारे में पूछा और फील्ड ने यह जाने बगैर कि वह ऐसा क्यों कर रहा है, उसे बताया कि सोबल ने कहीं और नौकरी कर ली है। मरियम ने आगे कुछ नहीं कहा और चुपचाप पढ़ती रही। फील्ड के जमीर

पर कोई बोझ नहीं था। वह शनिवार को होने वाली मुलाकात के खयाल से आश्वस्त था।

छह दिनों में उसने मरियम से एकाध सवाल के जरिए मैक्स के बारे में कुछ और जानकारी हासिल कर ली। उसे यह जानकर हैरत हुई कि मैक्स डाक्टर या वकील बनने के लिए नहीं पढ़ रहा है, बल्कि उसने एकाउंटेंसी में डिग्री लेने के लिए व्यापारिक विषय ले रखा है। फील्ड को कुछ मायूसी हुई, क्योंकि वह लेखाकारों को मुंशी समझता था। वह किसी 'आला पेशे' को तरजीह देता था फिर भी उसने जल्द ही इस सिलसिले में छानबीन करके मालूम कर लिया कि प्रमाणित लेखाकार बहुत सम्मानित लोग होते हैं और यूँ शनिवार के आते-आते वह पूरी तरह आश्वस्त हो गया। लेकिन शनिवार का दिन व्यस्त दिन था और उसे ज्यादा वक्त दूकान में रहना पड़ा इसलिए जब मैक्स मरियम से मिलने आया, तो वह उसे नहीं देख सका। उसे अपनी बीवी से मालूम हुआ कि आज कोई खास बात नहीं हुई। मैक्स ने घंटी बजाई थी और मरियम अपना कोट उठा कर उसके साथ बाहर निकल गई थी। बस, इससे ज्यादा कुछ नहीं। फील्ड गहराई में नहीं गया, क्योंकि उसकी बीवी कुछ खास तेजबीन नहीं थी। इसके बजाय वह अखबार लेकर मरियम की वापसी का इंतजार करता रहा लेकिन वह अपने विचारों में इतना खोया हुआ था कि अखबार पर उसकी नजर मुश्किल से पड़ती थी। जब उसकी आँख खुली तो मरियम कमरे में उसके साथ मौजूद थी। वह थके हुए अंदाज में अपना कोट उतार रही थी। मरियम को देख कर उसे कुछ अनजाना सा डर महसूस हुआ और वह मुलाकात के बारे में उससे कुछ न पूछ सका। मरियम ने खुद भी कुछ नहीं बताया। इसलिए आखिर वह पूछने पर मजबूर हो गया कि शाम कैसी गुजरी। मरियम ने पहले तो गोलमोल जवाब देना चाहा, लेकिन फिर अपना ख्याल बदल लिया और पल भर बाद बोली, 'मैं बोर हुई।'

जब फील्ड इस धक्के से उबरा तो उसने इसकी वजह पूछी, तो मरियम ने बिना हिचकिचाहट के जवाब दिया, 'वह भौतिकतावादी से ज्यादा कुछ नहीं है।'

'इस शब्द का क्या मतलब है?'

'वह रूखा आदमी है। सिर्फ चीज़ों में दिलचस्पी रखता है।'

उसने मरियम की बात पर बहुत देर गौर किया। फिर पूछा, 'फिर मिलोगी उससे?'

'उसने कहा तो नहीं।'

'मान लो, अगर वो कहे।'

'मैं उससे नहीं मिलूँगी।'

फील्ड ने और नहीं कुरेदा, फिर भी हर दिन उसकी उम्मीद बढ़ती रही कि किसी दिन मरियम अपना इरादा बदल देगी। वह सोचता काश, मैक्स ही मिलने आ जाए, क्योंकि उसे यकीन था कि मैक्स में जो कुछ है, उसे मरियम की नातजुर्बेकार आंखें नहीं देख सकती। लेकिन मैक्स नहीं आया, बल्कि उसने कालेज जाने के लिए एक और रास्ता अपना लिया। अब वह फील्ड की दूकान के सामने से नहीं गुजरता था। फील्ड को इस बात से सख्त सदमा पहुँचा।

एक शाम मैक्स दूकान में आया और अपने जूते माँगे। फील्ड ने उसके जूते शेल्फ से उतारे जहाँ उसने उन्हें दूसरे जूतों से अलग रखा था। उसने उन जूतों की खुद मरम्मत की थी और उनके तले और एड़ियाँ बहुत मजबूत और उम्दा बनी थीं, उन्हें बहुत अच्छी तरह पालिश किया गया था और वे किसी न किसी तरह नए जूतों से बेहतर लग रहे थे। मैक्स ने जब उन्हें देखा, तो उसका टेंटवा उछल कर ऊपर आ गया और आँखों में चमक पैदा हो गई।

'कितने पैसे?' उसने फील्ड की तरफ देखे बगैर कहा।

'जितने तुम्हें बताए थे।' फील्ड ने उदासी से जवाब दिया, 'एक डालर पचास सेंट।'

मैक्स ने दो मुड़े-तुड़े नोट उसके हवाले किए और बदले में चांदी का आधा डालर का सिक्का लेकर चला गया। मरियम का कोई जिक्र नहीं आया। उसी रात फील्ड को पता चला कि उसका नया नौकर शुरू से गल्ले से पैसे चुराता रहा है और उस पर दिल का दौरा पड़ गया।

दौरा हालांकि बिल्कुल मामूली था, लेकिन उसे तीन सप्ताह बिस्तर में रहना पड़ा। मरियम ने सोबल को बुलाने की बात की, तो बीमार फील्ड इस बात पर और चीखने-चिल्लाने लगा। फिर भी वह अपने दिल में जानता था कि इसके सिवा कोई और रास्ता नहीं है और दूकान में थका देने वाले पहले ही दिन वह इस बात पर मजबूर हो गया, सो उस रात खाने के बाद वह गिरता-पड़ता सोबल की तरफ गया। वह आखिरी मंजिल तक सीढ़ियाँ चढ़ता रहा हालांकि जानता था कि यह उसके लिए नुकासनदेह है। उसने दरवाजे पर दस्तक दी। सोबल ने दरवाजा खोला और वह अंदर दाखिल हो गया। कमरा छोटा और सस्ता किस्म का था। उसमें एक ही खिड़की थी जो सड़क पर खुलती थी। कमरे में एक तंग चारपाई, एक नीची मेज और किताबों के कई ढेर थे जो दीवारों के साथ बेतरतीबी से फर्श पर पड़े थे। किताबों के ढेर देख कर उसे खयाल आया कि सोबल कैसा अजीब आदमी है। अनपढ़ होकर भी इतना पढ़ता है। उसने एक बार पूछा था, 'सोबल! तुम इतना क्यों पढ़ते हो?' और वह कोई जवाब नहीं दे सका था। 'तुमने कभी कॉलेज में पढ़ा है?' उसने पूछा था और सोबल ने इन्कार में सिर हिला दिया था। उसने कहा था कि वह जानने के लिए पढ़ता है, 'लेकिन क्या जानने के लिए? और क्यों जानने के लिए?' सोबल स्पष्ट न कर सका जिससे साबित होता है कि वह इतना ज्यादा इसलिए पढ़ता था कि वह अजीब था।

फील्ड सांस ठीक करने लगा। सोबल बिस्तर पर नीम दराज था और उसकी पीठ दीवार से टिकी हुई थी। उसकी कमीज और पतलून साफ-सुथरी थी और उंगलियाँ जूतों का काम से दूर होने के कारण अजीब तरह से पतली थीं। उसका चेहरा पीला और उतरा हुआ था जैसे वह दूकान से भाग आने के बाद से लगातार इसी कमरे में बंद हो।

'काम पर कब वापस आओगे?' फील्ड ने उससे पूछा।

उसके हैरत की हद न रही जब सोबल ने चिल्ला कर कहा, 'कभी नहीं।'

वह बिस्तर से कूद कर खिड़की की तरफ चला गया और वीरान सड़क पर झाँकने लगा।

'क्यों वापस आऊँ मैं?' वह चिल्लाया।

'मैं तुम्हारी तनख्वाह बढ़ा दूँगा।'

'किसे परवाह है तुम्हारी तनख्वाह की?'

फील्ड को पता था कि उसे परवाह नहीं है। हैरान था कि अब क्या कहे।

'तुम मुझसे क्या चाहते हो सोबल?'

'कछ नहीं।'

'मैंने हमेशा तुम्हें अपने बेटे की तरह समझा है।'

सोबल ने सख्ती से विरोध किया, 'तो फिर तुम मरियम के साथ बाहर जाने के लिए अजनबी लड़कों को क्यों ढूँढते हो, मेरे बारे में क्यों नहीं सोचते?'

फील्ड के हाथ-पाँव ढीले हो गए। उसकी आवाज इतनी बैठ गई कि वह बोल न सका। आखिरकार उसने गला साफ किया और फटी हुई आवाज में बोला, 'मेरी बेटी को एक पैंतीस साल के मोची से, जो मेरा नौकर है; क्या लेना है?'

'तुम यह क्यों समझते हो कि मैंने इतना अर्सा तुम्हारे लिए काम किया है?' सोबल चिल्लाया, 'इस मामूली तनख्वाह पर मैंने अपनी जिन्दगी के पाँच साल इसलिए कुर्बान किए हैं कि मुझे खाना-पीना और सोने की जगह मिल सके?'

'फिर किसलिए?' फील्ड चीखा।

'मरियम के लिए', वह बोल उठा, 'उसकी

खातिर'।

फील्ड की जबान खुली। उसने कहा, 'सोबल, मैं तनख्वाह अदायगी नकद करता हूँ' और खामोश हो गया। वह गुस्से के मारे खौल रहा था लेकिन उसका जेहन बिल्कुल साफ था। आखिर उसे मान लेना पड़ा कि उसे शुरू से ही इस बात का खटका था। इस बावत सोचा नहीं, पर महसूस जरूर किया था और इसीलिए उससे उसने भराई हुई आवाज में पूछा।

'मालूम है।'

'तुमने बताया है?'

'नहीं।'

'फिर उसे कैसे मालूम हुआ?'

'उसे कैसे मालूम है?' सोबल ने कहा, 'क्योंकि वह जानती है। वह जानती है कि मैं कौन हूँ और मेरे दिल में क्या है?'

फील्ड की जैसे अचानक आँखें खुल गईं। अपनी किताबों और टिप्पणियों की मदद से सोबल ने जरूर मरियम को जता दिया था कि वह उससे प्यार करता है। उसे इस छल पर बहुत गुस्सा आया।

'सोबल तुम पागल हो', उसने तल्खी से कहा, 'वह कभी तुम जैसे बूढ़े और बदसूरत आदमी से शादी नहीं करेगी।'

गुस्से से सोबल का चेहरा लाल हो गया। वह फील्ड पर बरस पड़ा, फिर उसकी आँखें नम हो गईं। कितनी अजीब और दर्दनाक बात थी कि एक शरणार्थी, एक पकी उम्र का आदमी जिसे तकलीफों व दुखों ने गंजा और बूढ़ा कर दिया था; जो हिटलर के शिकंजे से बाल-बाल बचा था, अमेरिका पहुँच कर अपने से आधी उम्र की लड़की के प्यार में पड़ जाए और बिना विरोध के उस लड़की के औरत बनने के इंतजार में पाँच साल तक रात-दिन चमड़ा कूटता रहे।

'बदसूरत मैंने तुम्हें नहीं कहा।' उसने ऊँची आवाज में कहा।

तब उसे अहसास हुआ कि उसने सोबल को बदसूरत नहीं कहा था, बल्कि उस जिन्दगी को कहा था जो शादी के बाद होने वाली थी। उसने बेटी के लिए एक अजीब और दिल को जकड़ लेने वाला दुख महसूस किया जैसे वह सोबल-मोची की दुल्हन बन चुकी हो और उसकी जिन्दगी उसकी माँ की जिन्दगी से अलग न हो। वे सारे सपने, वह सारी मेहनत-मशक्कत जो उसने मरियम के लिए की थी, बेकार गई। सोबल खिड़की के पास खड़ा पढ़ रहा था और अजीब बात थी कि वह पढ़ते वक्त जवान नजर आता था।

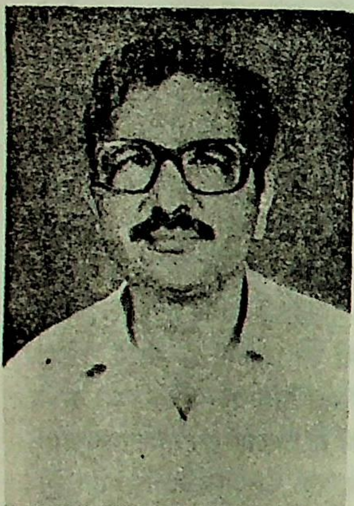
'वह उन्नीस साल की है।' फील्ड ने हारे हुए लहजे में कहा, 'शादी के लिए यह उम्र अभी कम है। अभी दो साल और उससे शादी की बात मत करो। जब वह इक्कीस साल की हो जाए, तो बेशक उससे बात कर लेना।'

सोबल ने जवाब नहीं दिया। फील्ड चला गया। जब वह एक बार बाहर आ गया, तो ठंडी रात और सड़क को सफेद करती हुई बर्फ के बावजूद उसकी चाल में मजबूती थी।

लेकिन अगली सुबह जब बोझिल दिल के साथ फील्ड दूकान खोलने आया, तो उसने जाना कि उसे आने की जरूरत नहीं थी। उसका मददगार पहले ही से फर्मे पर बैठा अपने प्यार की खातिर चमड़ा कूट रहा था।

❑

राजस्थानी नाटक



बी.एल. माली 'अशांत' : नवम्बर 1948/ एम.ए. एल.एल-बी/ प्रकाशन : राजस्थानी साहित्य में, व्याकरण, अनुवाद और बाल साहित्य की लगभग 4 दर्जन पुस्तकें। उपन्यास : अबोला, मिनख रा खोज, बैजू। नाटक : बोलता आखर। निबंध : माटी सूँ मजाक, पावड़ा, पड़ाव अर मजल, तारां छाई रात। कहानी- किसी किसी कटको, राई राई रेत, कविता : हेली म्हारी। सम्मान : राजस्थानी साहित्य अकादमी आदि। संपादन : पणिहारी, झुणझुणियो पत्रिका।

बी.एल. माली 'अशांत'

रूपांतर : कुमार पंकज

कारूनटी

पात्र-परिचय

कारूनटी : जनजाति कारूनटों की एक नृत्य-निपुण बेटी।
केमास : पृथ्वीराज चौहान के शासनकाल में सांभर का चौहान सामंत, शक्ति पुरुष और मंत्री।
चंद देई : केमास की गम्भीर मंदस्मित पत्नी।
मार्दडिंग्क : केमास के दरबार का निपुण ताल-साधक।
पृथ्वीराज : सांभरनाथ, दिल्ली सम्राट पृथ्वीराज चौहान।
चन्दबरदाई : पृथ्वीराज का मित्र वीर स्वामिभक्त सेवक और 'पृथ्वीराज रासो' का रचयिता कवि।
जयचन्द : कान्यकुब्ज महाराजा जयत्रीचन्द्र।
सुहल देई : (सुहल देवी) जयचन्द की पत्नी।
सातवाहन : प्रतापी नरेश सातवाहन (मध्य भारत)
कारूनट औरतें, गुप्तचर सैनिक कारूनट, दरबारी सेवक-सेविकाएँ आदि।

प्रथम अंक

दृश्य - 1

12वीं शताब्दी की धुमक्कड़ जनजाति कारूनटों का डेरा।

मंच पर मंद प्रकाश में एक तरफ कारूनटों के पुरुष मल्ल-विद्या के दांव खेलते दिखाई पड़ रहे हैं, दूसरी तरफ महिलाएँ नाच-गाने में व्यस्त दिखाई पड़ती हैं। बुजुर्ग औरतें उनके पास बैठी हुई हैं। बीच-बीच में कुछ बताती हुई सी प्रतीत होती हैं। युवा कारूनट बालक व्यायाम कौशल सीखने में व्यस्त हैं। उनके बीच एक बुजुर्ग खड़ा दिखाई पड़ रहा है। छोटे बालक एक तरफ कुश्ती कर रहे हैं। बालिकाएँ उनके सामने एक तरफ खेल रही हैं।

डेरे में से एक युवा शोड़पी जिसकी चाल में ताल है, नख-शिख का बनाव है, चेहरे पर चांदनी का रूप है। शील का तेज है लावण्य की चमक है मंच पर आती है। उसे देखकर औरतें कहती हैं— कारू आ गई।

एक औरत : कारू, तू नाच!

दूसरी औरत : हाँ, कारू आज तू ऐसा नाच नाच कि देखकर लोग मुँह में अंगुली ले लें।

तीसरी बुजुर्ग औरत : तू नृत्य-निपुण है, कारू। तुम्हारा शील तेज कारूनटों की महिमा बनेगा।

चौथी औरत : कारू तू नाच!

[वे जगह बना लेती हैं। नृत्य के साथ मल्ल में मस्त पुरुष, युवकों के दांव मानो स्थिर हो जाते हैं। बालक व्यायाम कौशल सीखते-सीखते मानो अटक जाते हैं। एक-दूसरे को छोड़कर वे औरतों के चारों तरफ खड़े हो जाते हैं। बालिकाएँ आकर औरतों के सामने बैठ जाती हैं।

डेरों में ढोल, नगारे, मृदंग, झींझ, सारंगी बाजे आ जाते हैं। साज लाने वाले अपने-अपने साज साधने लग जाते हैं। कारू नृत्य भाव जगा रही है। धीरे-धीरे मंच प्रकाशित होने लगता है। प्रकाश के सामने कारूनटी।

नृत्य प्रारम्भ होता है। ताल पर संचार एक अजूबा वातावरण सृजित करता है। सब टकटकी लगाए कारू के नृत्य को देख रहे हैं।

ताल साधक ताल समेटने लगे हैं। साज नृत्य अंतिम पड़ाव की ओर अग्रसर है।

नृत्य के आनन्द के भाव छोटे-बड़े, औरत-आदमी सबके चेहरों पर अंकित हैं।

नृत्य थमता है। कारू औरतों के बीच आकर खड़ी हो जाती है। प्रकाश कारू और तीसरी औरत के ऊपर है।]

तीसरी औरत: कारू, सांभर नरेश केमास बड़ा धर्मात्मा पुरुष है। उसके दरबार में गुणीजनों का आदर है। देश के गायक,कवि और विद्या विशारद उनके दरबार में आदर प्राप्त कर रहे हैं। तू ताल की पटराणी है। दरबार में उपस्थित होकर अरदास कर। अपने नाच का रंग दिखा। तेरा मान बढ़ेगा।

दूसरी औरत : केमास धर्मावतार है, बेटी। वह औरत का लालची नहीं है। वह तुम्हें मान देगा।

एक आदमी : हाँ कारू। अपनी जाति और अपनी विद्या को मान मिलेगा। तू बड़िया का कहना मान। देशोंदेश तेरे नाच की ख्याति बढ़ेगी।

प्रकाश में कारूनटी शांत भाव से खड़ी है। एक अन्य जन उसके समक्ष राजा का वर्णन कर रहा है।

अन्य आदमी: राजा नेक पुरुष है। वह भोग-विलासी नहीं है, कला प्रेमी है। कलाकारों का आश्रयदाता और आदर देवणहार है। इसी कारण शाकम्भरी भूमि गुणीजनों से भरी-पूरी है, कारू। राज-दरबार तुम्हारी कला की कद्र करेगा।

बड़िया : कारू तू केमास के दरबार में हाजिर होने के लिए सोच।

मंच पर प्रकाश धीमा होते-होते अंधकार।

दृश्य - 2

रात का समय। कारू का डेरा।

मंच पर प्रकाश में अपने डेरे में कारू चिंतन मुद्रा में बैठी दिखाई पड़ती है। वातावरण शांत है। वह

केमास की कल्पना में खोई हुई है। राजाओं के लिए उसके मस्तिष्क में कई तरह के विचार उठते हैं। उसके कानों में बोल सुनाई देने लग जाते हैं— केमास धर्मात्मा पुरुष है, बेटी... वह तुम्हें मान देगा। ...वह औरतों का लालची नहीं है... अपनी विद्या को मान देगा... अचानक उसके मुँह से निकलता है— राजा जोगी अगनजल इनकी रीति सुलटी नहीं है। कारू अकेली बैठी सोच रही है। वह विचारों से घिरी हुई है। प्रकाश धीमा होते होते मंच पर अंधेरा।

दृश्य - 3

— शाकम्भर भूमि- सांभर नगरी।
—12वीं सदी के चौहान नरेश केमास का दरबार। मंच पर प्रकाश में सिंहासन पर वीर वेश में बैठे चौहान नरेश केमास की आँखों पर पट्टी बाँधी जा रही है। दरबार में वीर अपने-अपने हथियार साधे ओज बिखेर रहे हैं। युद्ध उन्माद चेहरों पर स्पष्ट नजर आ रहा है।

दरबार हाल के बाहर दो जनी खड़ी दिखाई दे रही हैं। उनमें से एक दूसरे से पूछ रही है—

एक औरत : यह राजा की आँखों पर पट्टी क्यों बाँधी जा रही है?

दूसरी औरत : तुम्हें पता नहीं।

एक औरत : नहीं।

दूसरी औरत : कारू राजा केमास रणभूमि में लड़ने के लिए जाता है तो एक दिन पहले वह अपनी आँखों पर पट्टी बंधवा लेता है। यह बँधी हुई पट्टी रणक्षेत्र में ही खोली जाती है। राजा धर्मात्मा होने के साथ वीर भी है, कारू। उसके सम्पूर्ण शरीर में युद्ध का उन्माद ऐसा छाता है कि उसका रोम-रोम फड़कने लग जाता है और आँखों से आग निकलने लग जाती है। जब वह अपने खातोले घोड़े 'वज्र' पर सवार होकर और सात हाथ लम्बा खांडा हाथ में लेकर दुश्मन की सेना पर टूटता है तो जाने गाज गिरती है। विशाल शत्रु सेना कुछ ताल में ही इधर-उधर भाग छूटती है। महाराज पृथ्वीराज ने इनकी सहायता से ही दुर्दमनीय दुश्मनों पर विजय प्राप्त की है। इनकी जोड़ का वीर फकत महाराज पृथ्वीराज के काकोसा कान्होजी हीं है, दूसरा नहीं। तू चल।

कारू : नहीं, हम आज दरबार में हाजिर नहीं होंगी, बड़िया। राजा अपनी पट्टी नहीं खोलेगा और नृत्य आँखों के बिना नहीं दिखाई देता। विद्या को देखने के लिए भीतरी और बाहरी आँखें चाहिए, बड़िया। और भीतर, बिना बाहरी आँखों के देखे नहीं बोलता।

बड़िया : नृत्य के लिए कान चाहिए, कारू। गुणी पुरुष कान से नृत्य कला को पहिचान लेते हैं, बेटी। राजा उदार है। इस औदार्य के कारण ही गुणीजन उनकी तरफ खिंचे आते हैं। इस हाल में भी राजा तुम्हारी बात सुनेगा।

कारू : नहीं बड़िया, हम फिर कभी हाजिर होंगे, आज नहीं। आज राजा युद्ध में जाने की तैयारी कर रहा है।

बड़िया : तू अपने नृत्य से युद्ध का उन्माद जगा सकती है, कारू।

कारू : नहीं बड़िया आज नहीं। आज मैं नृत्य नहीं करूँगी। राजा को अपने युद्ध उन्माद में रहने दे, अपने भीतर उन्माद सृजित करने दे।

मंच पर प्रकाश धीरे-धीरे मंद पड़ता है। कारू और बड़िया बतियाते दिखाई पड़ती हैं। धीरे-धीरे मंच पर अंधेरा हो जाता है।

दृश्य - 4

— रात का समय
— रेत का धोरा
मंच पर धीमे प्रकाश में कारू डेरे से बाहर उजली चाँदनी में बैठी दिखाई पड़ती है। चिंतन मुदा। कारू के दिमाग में केमास की रूप आकृति और श्रृवित गुण की छवि तूफान खड़ा करती है। अचानक उसके मुँह से निकलता है—

कारू : अगर राजा केमास उसके लिए आँखां पर पट्टी बाँध ले तो? (कुछ सोचते हुए) राजा

की आँखों पर यह पट्टी नहीं, किसी का विध्वंस है, कारू! रणक्षेत्र के लिए तो यह ठीक है परन्तु जग और जन के लिए यह पट्टी बरबादी और विध्वंस है। राजा का कोई भरोसा नहीं।
(कुछ सोचते हुए)... परन्तु राजा कला प्रेमी भी तो है। धर्मी पुरुष भी तो है। ... मुझे जरूर जाना चाहिए। (फिर कुछ सोचकर) .... नहीं कारू। तू सपने मत देख।
(फिर कुछ सोचते हुए) ... क्या पता यह भय भी सपना हो। कला की कीर्ति को कलामंच और कला पारखी मिले तो ही कीरत (कीर्ति) मिलती है। मैं राजदरबार में अवश्य जाऊँगी।
प्रकाश धीमा पड़ता है। कारू निर्णय की मुद्रा में गम्भीर। धीरे-धीरे अंधकार।

दृश्य - 5

— केमास का दरबार
— मद्धिम प्रकाश।
राज दरबार गुणीजनों से गम्भीर मुद्रा लिए दिखाई पड़ता है। सभासदों में ताल सम्राट मार्दडिंग्क सुशोभित है। अन्य सभासद अपने-अपने स्थानों पर विराज रहे हैं। विचार-विमर्श चल रहा है। विचार-विमर्श के दौरान एक नृत्यांगना का प्रवेश। सबकी नजरें उस पर आ टिकती है।

नृत्यांगना : (झुककर) खम्मा धणी।
सभासदों की नजरें नृत्यांगना पर लग जाती है। वह नृत्य-वेश में नृत्य-मूर्ति सी लगती है।

केमास : तुम कौन हो, देवी?

नृत्यांगना : अन्नदाता, दासी देवी नहीं हुक्म के राज्य की एक मामूली कारूनटी है।

केमास : नहीं देवी। तुम मामूली नहीं हो सकती। हमारी नजरों के प्रमाण तुम एक अद्‌भुत नृत्यांगना हो। तुम वीरता और कला का अद्‌भुत संयोग हो। तुम्हारा वेश मामूली नहीं है, देवी, नृत्य-नटी, तुम मल्ल-विद्या और व्यायाम कौशल से निष्णात जग प्रसिद्ध कारूनट जाति की नृत्यकला की साक्षात मूरत हो। सांभर नरेश के दरबार में तुम्हारा स्वागत है। नृत्य षोडशी का क्या नाम है?

नृत्यांगना : धणी, कारूनटी।

केमास : यह दरबार माँ शाकम्भरी की कृपा का दरबार है, नृत्यांगना कारू। मैं तो इसका फकत गद्दीदार हूँ। यह दरबार गुणों का, गुणीजनों का, धर्मवीरों का, नीति पुरुषों का, कर्मवीरों का, धर्म पुरुषों का दरबार है। यह जग प्रसिद्ध चौहान वीर पुरुषों का कुल दरबार है। यह कला दरबार है, अपना नृत्य कौशल दिखलाओ और इस सभा में अपना सम्मान सृजित करो, नृत्यांगना कारूनटी। तुम्हारे नृत्य वैभव से इस दरबार की शोभा बढ़ेगी।

कारू : (खुशी के आँसू पोंछती हुई) खम्मा धणी।

केमास : हे कला साधिका! कला दरबार में कला और कला साधक ही बड़े होते हैं। राजा बड़ा नहीं होता। इस दरबार में तुम्हारी कला का प्रदर्शन मंच है। यह मंच तुम्हें आमंत्रित करता है।
नेपथ्य से आवाज आती है— कला प्रेमी महाराज केमास की जय हो! जय हो!!

केमास : नृत्यांगना के कला प्रदर्शन की तैयारी की जावे।

मंच पर अंधकार

दृश्य - 6

मद्धिम प्रकाश में मंच पर नृत्यमुद्रा में कारूनटी दिखाई पड़ती है। अलग-अलग साज लिए साज साधक विराजमान। मार्दडिंग्क ताल साध रहे हैं। कारू शुक्ल सरस्वती की आराधना करती है। तत्पश्चात चौहान कुलदेवी शाकम्भरी को नृत्य प्रणाम प्रस्तुत करती है। इसके बाद भगवान नटराज का नृत्य स्मरण करती नृत्य प्रारम्भ करती है। साजों में मरु लोक धुन सजे। कला साधकों के हाथों मरुभूमि की रलियावली सुर-सम्पदा का आभास होता है। नृत्य में मरु नृत्य का प्रभाव पूर्णत: दिखाई देता है। नृत्यांगना का शरीर जैसे नृत्य में सम्पूर्ण तपा हुआ है, अंग जाने ताल के बस। पग जैसे

ताल की पकड़। मंच प्रकाश संयोजन अपनी पूर्ण कला पर है। रंगों का अद्भुत प्रभाव एक अजूबा सृजित करता है। नृत्य ताल पर थिरक उठता है। ताल पर विक्षेप और आंगिक प्रभाव नृत्य का अद्भुत छंद सृजित करते हैं। सभा रसाबोर हो जाती है। नृत्य थमता है तो मंच पर धीमी होती हुई रोशनी एकदम नम्र हो जाती है मानो कला का सम्मान कर रही हो। दृश्य बदलता है।

रोशनी धीरे-धीरे मंच पर उभरती है। केमास सिंहासन पर विराजमान दिखाई पड़ते हैं। सामने सभासद बैठे हुए हैं। कारू हाथ जोड़े नमन मुद्रा में खड़ी है।

केमास : अद्भुत! अजोड़! कोई जोड़ नहीं है इस नृत्य का, कारूनटी। आज से यह गुणीजन सभा तुम्हारी आभा से दमकेगी। आज से तुम माँ शाकम्भरी के प्रताप से पल्लवित इस दरबार की शोभा हो। यह दरबार तुम्हारी कला को और उभारेगा। तुम चौहान राजकुल का कलामान बढ़ाओ, माँ शाकम्भरी से हमारी प्रार्थना है।

नेपथ्य से— महाराज केमास की जय हो! जय हो!!

केमास : शाकम्भरी दरबार का 'सरस्वती उत्सव' आज के दसवें दिन है। तुम अपने नृत्य का छंद इसमें प्रदर्शित करो, हमारी यह इच्छा है नृत्यांगना।

कारूनटी : हुक्म धणी।

केमास : (कुछ सोचते हुए) क्या तुम ऐसा नृत्य कर सकती हो कारूनटी जिसको देखकर आधी सभा रोवे और आधी सभा हँसने लग जावे।

कारूनटी : धणी की जैसी आज्ञा होगी, दासी शक्ति भर पालन करेगी, अन्नदाता। पर दासी इतना आशा जरूर रखेगी कि हुक्म पहले से इसकी सूचना किसी को न दें। दासी की कला का मान रखें।

केमास : ऐसा ही होगा नृत्य-देवी।

कारूनटी : खम्मा घणी। दासी नृत्य-देवी नहीं, नृत्य-दासी है।

केमास : नहीं, तुम दासी नहीं हो कारू। तुम नृत्य साम्राज्ञी हो। तुम्हारी नृत्य क्षमता ने तुम्हें दिव्यता दी है। तुम इसे पहिचान नहीं सकती। तुम चौहान कुल दरबार की कीरत हो, हे कारूनटी। मंच पर रोशनी मद्धिम होती हुई मंद हो जाती है।

दृश्य - 7

— सांभर नगरी का सरस्वती भवन

— सरस्वती उत्सव।

मंच पर कला साधक अपने-अपने साज साधने की मुद्रा में बैठे हैं। रोशनी में सांभरीनाथ महाराजा पृथ्वीराज बीचों-बीच बैठे दिखाई पड़ रहे हैं। इनकी बांई ओर सांभर नरेश केमास और दाईं तरफ अबुदेश्वर— आबू नरेश कान्ह बैठे हुए हैं। मंच के एक तरफ पर्दे की बाईं तरफ महिला-मंडल में रानियाँ दासियों के साथ एवं अन्य संभ्रांत महिलाएँ रोशनी में बैठी हुई हैं। सभासद सब सामने बैठे हुए हैं।

ताल साधक तैयार हैं। कारूनटी ने एक दिन पहले ही अपनी तैयारी कर ली थी। वह लावण्य युक्त शील और सौजन्य से परिपूर्ण कारूनटी मंच के बीचों बीच आगे ही आगे रोशनी में नृत्यांगना के वेश में खड़ी दिखाई देती है। मंच पर रोशनी में महान ताल साधक मार्दडिंग्क ताल साधते हैं। ताल के साथ कारू के पद विक्षेपों के साथ नृत्य का एक छंद निकलता है और स्थिर हो जाता है। कारूनटी अपनी आराध्य शुक्ल सरस्वती का षोडषोपचार पूर्ण पूजन आराधन करती है, फिर अपनी नृत्य योजना को निर्णायक रूप देती है। कुलदेवी शाकम्भरी की अर्चना कर नृत्य आरती उतार, नृत्य संकेत देती है।

महान ताल साधक मार्दडिंग्क ताल प्रारंभ करते हैं तो कारूनटी का निपुण पद संचार से अद्भुत वातावरण सृजित होता चला जाता है। सभा में किसी को कुछ पता नहीं। सब नृत्य और गीत में लीन।

नृत्य का आरम्भ एक करुणगीत से हुआ। वह गीत भी कारूनटी का स्वयं का रचा हुआ था। गीत में कातर होकर प्रेमी ने चिरन्तन आत्मसमर्पण किया है। कारूनटी के कोमल कम्पायमान स्वरों में एकाकार होकर वह आत्मनिवेदन बहुत ही करुण हो गया है। मार्दडिंग्क के ताल पर निपुण नृत्यांगना कारूनटी के पद संचार से करुणा की सहस्रधारा इस भाँति ऊर्ध्वमुख उत्क्षिप्त हुई है जैसे सहस्रधारा यंत्र से वारिधारा उच्छवासित होकर उठी हो। गान की ध्रुवा रह-रहकर करुण कम्पन उपजाने लगी। सभासदों की आँखें गीली हो गईं। परन्तु सभासद बड़े अचम्भे से देख रहे थे कि पर्दे के पीछे बैठी समस्त महिलाएँ, रानियाँ और दासियाँ सब हँसी से लहालोट हो रही थीं, हँसी उनके पेट में नहीं समा रही थी। कारूनटी की प्रत्येक थिरकन जहाँ पुरुष श्रोताओं के हृदय कातर पीड़ा से भर रही थी, वहीं दूसरी तरफ प्रत्येक महिला श्रोता के मुँह में पल्लू रखने को विवश कर रही थी। उन्हें लोट-पोट कर रही थी। मुँह का पल्लू महिलाओं की हँसी का अट्ठास दबाने में एकदम असमर्थ हो रहा था।

इस विचित्र बात ने केमास को चकित कर दिया। पुरुष महिलाओं की इस हँसी से चिंतित दिखाई दे रहे थे। अबुदेश्वर कान्ह (पृथ्वीराज के काकोसा) यह देखकर क्रोध से भर गए।

कान्ह : यह क्या उपहास है। सांभर राजमहल की वीरवाणियाँ क्या शिष्टाचार के सब संस्कार भूल चुकी हैं। कोई तो रो रहे हैं और महिलाएँ हँस रही हैं इन रोने वालों पर।

आवाज के साथ नृत्य रुक जाता है। रोशनी में कारूनटी निरीह भाव में हाथ जोड़ क्षमा मुद्रा में दिखाई देती है।

केमास : (अचम्भे में) यह क्या बात है, कारूनटी।

कारूनटी : (हाथा जोड़कर पवित्र स्मित के साथ) धर्मावतार की आज्ञा मुजब दासी ने हुकम बजाया है, अन्नदाता।

केमास : (हैरान मुद्रा में) ...

एक सभासद : (निकट आकर) खम्मा धणी। कारूनटी को आपने ही ऐसा नृत्य करने का आदेश दिया था जिसे देखकर आधी सभा रोवे और आधी सभा हँसे। कारू ने यही नृत्य किया है, धणी।

दूसरा सभासद : कारूनटी को अवश्य कोई सिद्धी प्राप्त है, धणी।

केमास : (असमंजस की मुद्रा में) ...

सभासद कारूनटी के जयकारों से आकाश गूँजा देते हैं।

दृश्य - 8

प्रकाश में केमास असमंजस की मुद्रा में अंत:पुर की तरफ जाते दिखाई देते हैं। धीरे-धीरे मंच पर अंधेरा हो जाता है।

दृश्य - 9

—केमास का चंगदेई का कक्ष

प्रकाश में मंच पर अंत:पुर का दृश्य। रानी चंगदेई अपनी दासियों के साथ बैठी है, महाराज केमास का प्रवेश।

सब स्त्रियोचित लज्जा एवं आदर भाव से खड़ी हो जाती हैं। रानी चंगदेई हँसकर स्वागत करती है और और कई ताल तक हँसती रहती है। इस समय भी रानी पर उस विचित्र नृत्य की मादकता छाई हुई है।

केमास : (देखकर) आश्चर्य है। आश्चर्य है? स्वभाव से गैर-गम्भीर रानी को इस भाँति हँसते देखकर आश्चर्य है। फकत मंद स्मित ही जिनके अधरों पर ठहर सकता है, उस देवी को इस भाँति खिलखिलाकर हँसते देखकर आश्चर्य है। चातक चकित है। इस हँसी का कारण जानना चाहता है।

चंगदेई : महाराज! नृत्य अपूर्व था। कारूनटी ने एक लाल रेशमी पर्दे पर दो चित्र बना लिए थे। एक चित्र तो एक भद्दी शक्ल के बावनिये कुबड़े का था जो हाथ जोड़कर प्रेम कातर मुद्रा में बैठा था, दूसरा चित्र एक अपूर्व सुन्दर स्त्री

का था जिसकी भौंवें क्रोध और घृणा से तनी हुई थीडु। इन दोनों चित्रों को कारूनटी ने अपने लंहगे के बांई तरफ लटका रखे थे। उन्हें बड़ी सावधानी से सी रखे थे कि जब कारूनटी का बांया अंग महिला मंडल की तरफ आए तो वह तुरन्त खुल जाता।

केमास : यह कैसे संभव था।

चंगदेई : यह बात विचित्र विक्षेप के कारण होती थी। हर एक थिरकन के साथ वह बावना कुबड़ा सुन्दरी के चरणों में गिर जाता और तुरन्त सुन्दरी के हाथ उसे टिल्ला देकर लुढ़का देते। प्रत्येक करुण मूर्च्छना के समय कारूनटी के हाथ महिला-मंडल की तरफ खुलते और उसकी अंगुलियाँ नृत्य रूप में दृश्य की तरफ निर्देश करती। पुरुष वर्ग जब भक्ति के करुण वेग में बह रहे थे, उधर महिलाओं के समक्ष वह दृश्य उपस्थित हो जाता और सम्पूर्ण करुण तत्त्व हास्य रस के अणु बन जाते। प्रारंभ में तो एक-आध महिलाओं ने ही इस दृश्य को देखा परन्तु बाद में कानों-कान बात फैल गई। वे उत्सुकतापूर्वक प्रतीक्षा करती रहती कि कब वह दृश्य उपस्थित हो और कब उन्हें अधिक हँसने का अवसर मिले। नृत्य के वेग के साथ उस भद्दी शक्ल के प्रेमी का लुढ़कना भी तेज होता गया और उसने महिलाओं के हँसी के बाँध तोड़ डाले। इसी वक्त काकोसा कान्होजी क्रोध में तिलमिला उठे। उनके बोलने से नृत्य बंद हो गया। महिलाएँ हँसी से लोट-पोट होती हुईं अपने-अपने घर चली गईं और मैं महल में आ गई। परन्तु मेरी हँसी का वेग अब भी भीतर ही भीतर उस दृश्य की अलौकिकता के कारण थम नहीं रहा है।

केमास : धन्य है कारूनटी। तुम्हारी नृत्यकला धन्य है।

केमास कारूनटी के नृत्य भावों में खोया हुआ दिखाई पड़ते हैं। प्रकाश मंद पड़ता है। मंच पर अंधेरा।

दृश्य - 10

—सरस्वती भवन।

—सरस्वती उत्सव।

प्रकाश में मंच पर केमास और सभासद बैठे हुए हैं। केमास शुक्ल सरस्वती की पूजा-अर्चना करता दिखाई पड़ता है। कारूनटी सभा सदन में कला साधकों के बीच बैठी है।

केमास : सरस्वती भवन उत्सव के इस अवसर पर राज दरबार आप संग कला साधकों का सम्मान करता है और इस बात पर गुंमेज करता है कि महान ताल साधक मार्दडिंग्क की ताल पर अपूर्व नृत्य साधिका कारूनटी ने जो जीवन्त कला परिपूर्ण नृत्य प्रस्तुत किया उसकी कोई दूसरी जोड़ नहीं हो सकती। चहुंवाण कुल पर कृपा करणी जगदम्बे माँ शाकम्भरी की कृपा से संचालित यह कुल दरबार कारूनटी को सम्मानित करना चाहता है।

[दरबार में हलचल होती है। सहायिकाएँ सम्मान-थाल लिए हुए आकर खड़ी हो जाती हैं। केमास घोषणा करते हैं।]

केमास : सांभरनाथ कुल दरबार इस अवसर पर कारूनटी को 'नागर नटी' के विरुद से सम्मानित करता है।

दरबार तालियों की गड़गड़ाहट से गूँज उठता है। महाराज केमास की जय, नागर नटी की जय के जयकारों से सरस्वती भवन झूम उठता है।

प्रकाश में कारूनटी महाराज केमास से 'नागर नटी' सम्मान लेती हुई दिखाई देती है।

प्रकाश मद्धिम होता मंद पड़ जाता है।

द्वितीय अंक

दृश्य- 1

महाराजा पृथ्वीराज का राजमहल। चन्दबरदाई गम्भीर मुद्रा में बैठा है। बोई बोल-बतलावन हुई है, ऐसी मुद्रा है।

पृथ्वीराज : केमास को हुक्म दो, वह कारूनटी सहित दरबार में हाजिर हो।

चन्द्रबरदाई : कारूनटी नृत्यांगना है महाराज। नृत्य की मूर्ति है, वह नृत्य-कला साधिका है। सांभरीनाथ

के कुल दरबार की कला सभासद है। कला साधक का सम्मान राजकुल और मानव कुल की परम्परा है। इस परंपरा पर आँच नहीं आनी चाहिए, महाराज!

पृथ्वीराज : यह पृथ्वीराज चौहाण का हुक्म है, उसकी तिरस का छंद है, चंद!

चन्द्रबरदाई : महाराज! मैं आपका बालमित्र भी हूँ। मेरी स्वामिभक्ति की ऐसी परीक्षा मत लो, महाराज।

पृथ्वीराज : नहीं, चंद नहीं। मैं कारूनटी को हाजिर देखना चाहता हूँ।

चन्द्रबरदाई : यह महाराज के लिए उचित नहीं है। कारूनटी आपकी प्रजा भी है और कला साधिका है, महाराज।

पृथ्वीराज : हमने सुन लिए तुम्हारे नीति बोल! (दहाड़कर) सेवक हाजिर हो।

सेवक : हुक्म अन्नदाता।

पृथ्वीराज : केमास को हुक्म भिजवाओ कि वह कारूनटी को लेकर राजमहल में हाजिर हो।

सेवक : खम्मा अन्नदाता। आपरो आदेश लखकर महामंत्री मुझे ही सांभर भेजा था महाराज। (नीची गर्दन कर) केमास कारूनटी को आपको सूंपने को तैयार नहीं है।

पृथ्वीराज : अच्छ्याऽऽऽ। ... हूं.... (हुंकार निकलती है) लगता है कीड़ी को पांख उग आया है।

सेवक : हुक्म।

पृथ्वीराज : जावो। महामंत्री को बुलाकर लावो।

सेवक चला जाता है।

महामंत्री का प्रवेश।

महामंत्री : हुक्म धणियां।

पृथ्वीराज : केमास को क्या सजा दी?

महामंत्री : सजा मैं नहीं दे सकता हुक्म। सजा के लिए मुझे आपकी आज्ञा चाहिए, धणियां।

पृथ्वीराज : तो क्या तुमने हमारी आज्ञा से दूत को सांभर भेजियो?

महामंत्री : नहीं हुक्म। मुझे कई काम अपनी स्वामिभक्ति में भी करने पड़ते हैं, अन्नदाता। मैं अन्नदाता का लूंण खाता हूँ।

पृथ्वीराज : (लंबी सांस भरकर) तो केमास को समझा दो। उस पर यह दबाव डालो कि दिल्लीपति सांभरीनाथ उससे सांभर खाली करा लेगा। तुम नीति निपुण हो। दंड-भेद की नीति का प्रयोग कर उसे झुकावो अगर नहीं झुके तो फिर...

चन्द्रबरदाई : यह अनुचित है, महाराज।

पृथ्वीराज : राजा के आदेश के बीच में बोलना अपराध है। तुम्हारे भीतर हमारा सेवक बोला है कि बचपन का मित्र?

चन्द्रबरदाई : आपका बालमित्र, आपका स्वामिभक्त सेवक।

पृथ्वीराज : तो माफ है।

महामंत्री : खम्मा धणी। सांभर नरेश केमास ने साफ कह दिया है कि वह किसी दबाव में नहीं आएगा। माँ शाकम्भरी उसकी रक्षक हैं।

पृथ्वीराज : महामंत्री! माँ मौत को नहीं रोकती। मौत भी इस धरती की देवी है। वह भी पवित्र है। राजद्रोही को मौत को अंगीकार करना पड़ता है। यह रीत किसी विध नहीं रुकेगी। चलती रहेगी। भले ही राज बदले, राजा बदले। अगर केमास राजा का हुक्म नहीं मानता है तो वह अपराधी है। और अपराधी को सजा से सामना करना पड़ता है, चंद।

चन्द्रबरदाई : राजा निरंकुश नहीं होता, महाराज।

पृथ्वीराज : राजा तो निरंकुश ही होता है, चंद, और महाराजा राजा से अधिक निरंकुश। निरंकुश होना राजा की प्रकृति है, नहीं भला राजा से कौन डरेगा? कौन परवाह करेगा राजा और राज की। हमें कारूनटी से कुछ लेना हो या न हो पण हमें केमास की राजद्रोही इच्छा से बहुत कुछ लेना है, चंद। केमास अपराध करियो है। उसकी सजा उसे भुगतनी पड़ेगी।

मंच पर प्रकाश धीमा पड़ता है। महाराज पृथ्वीराज का मंत्री आता दिखाई पड़ता है। मंच के बीच में प्रकाश।

मंत्री का प्रवेश

मंत्री : खम्मा, अन्नदाता।

पृथ्वीराज : बोलो मंत्री जी।

मंत्री : अन्नदाता, केमास की हत्या हो गई है। कारूनटी को अजयमेरू दुर्ग में बंदी बना लिया गया है। अजयमेरू दुर्ग से निकलना अब आसान नहीं है। मैं रात को सांभर से चलकर आया हूँ, महाराज।

चन्द्रबरदाई : यह अच्छा नहीं हुआ, महाराज।

पृथ्वीराज : चन्द, राजा से द्रोह के अपराध की सजा सामन्त के लिए मौत ही है। (मंत्री की तरफ मुड़कर) कारूनटी की सुरक्षा का पुखता प्रबन्ध किया जावे।

मंत्री : जो हुक्म धणी।

मंत्री मुड़ता है इतने में एक खुफिया सैनिक आ जाता है।

खुफिया सैनिक का प्रवेश।

गुप्तचर : खम्मा अन्नदाता।

पृथ्वीराज : बोलो सैनिक।

गुप्तचर : महाराज रातों रात कारूनटी अजयमेरू किले से निकलकर भाग गई है।

प्रकाश में चंद के चेहरे पर संतोष के भाव स्पष्ट दिखाई पड़ रहे हैं। मंत्री और महामंत्री भय मिश्रित आश्चर्य में हैं।

पृथ्वीराज : यह कैसे हुआ सैनिक? (गर्जना)

गुप्तचर : हुक्म।

पृथ्वीराज : बतावो। अजयमेरू भेदना कारूनटों के बस की बात नहीं है और न ही सांभर के सैनिकों के बस की बात।

गुप्तचर : कारूनटों ने ही यह काम किया है, अन्नदाता।

पृथ्वीराज : असंभव!

गुप्तचर : अन्नदाता, कारूनटों ने नट विद्या से इसे संभव कर लिया, हुक्म।

पृथ्वीराज : कैसे, सैनिक कैसे?

गुप्तचर : एक सौ नटों ने अजयमेरू दुर्ग की खाई में सांस रोककर औंधे मुँह एक पर एक पड़कर एक दृढ़ सेतु तैयार कर लिया जिस पर से कारूनटी आसानी से निकल गई। बाँस के बल चलनेवाले ग्यारह सैनिक जगह-जगह तैयार थे, जिन्होंने रातों-रात उसे कान्यकुब्ज पहुँचा दिया। कारूनटों के घर...

पृथ्वीराज : (गर्जना के साथ) कान्यकुब्ज॥ महामंत्री। जयचंद के पास हमारा संदेश पहुँचावो और उसे कहो कि वो कारूनटी को सही-सलामत सांभरीनाथ के पास पहुँचा दे। उस पर दबाव डालो।

गुप्तचर : महाराज, जयत्रीचंद्र ने कारूनटी को देने से मना कर दिया है।

पृथ्वीराज : अच्छ्या! जयचंद ने मना करके ठीक नहीं किया, महामंत्री। अब उसे कारूनटी ही नहीं राजकुमारी संयोगिता भी दिल्लीपति को देनी होगी।

गुप्तचर : अन्नदाता जयत्रीचन्द्र सांभरीनाथ का शत्रु है।

पृथ्वीराज : हाँ सैनिक। मुझे लगता है, जयचन्द की यह 'ना' कन्नौज-काशी के गडहवारों के लिए बड़ी भारी पड़ेगी।

चन्द्रबरादई : अगर बिना विचारे कुछ हुआ तो यह 'ना' सांभर के चौहानों से मंहगा मोल चुकवाएगी महाराज।

पृथ्वीराज : चंदऽऽऽ! माँ शाकम्भरी की सौगन्ध। अगर तुम हमारे बचपन के मित्र न होते तो हम तुम्हारी नाड़ अपनी खड्ग से उतार लेते।

चन्द्रबरदाई : महाराज, मैंने खुलासा कहकर अपना मित्र धर्म और स्वामिभक्त धर्म निभाया है। इतिहास इस बात का गवाह बनेगा।

पृथ्वीराज : समय की धार को कौन रोक सकेगा, चंद। न ही तुम और न ही हम पृथ्वीराज चहुंवाण। राज के प्रति द्रोह करने वालों को ललकारना और दंडित करना राजा का कर्तव्य है, चंद। माँ शकम्भरी की सौगंध, हम जयचंद को इसका दंड अवश्य देंगे।

मंच पर रोशनी का प्रभाव भावों को उभार रहा

है। रोशनी धीमी।

दृश्य - 2

जयत्रीचन्द्र का दरबार

कारूनटी सभासदों में विराजमान है। प्रकाश में मंच पर जयत्रीचन्द्र।

जयत्रीचन्द्र : नागरनटी का कान्यकुब्ज नरेश के दरबार में स्वागत है।

कारूनटी विनम्र नमन करती दिखाई पड़ती है।

जयत्रीचन्द्र : कान्यकुब्ज राजसभा में प्रथम नृत्य आयोजन प्रस्तावित है। नागरनटी अपनी नृत्यकला निपुणता के प्रमाण ऐसा नृत्य पेश करे जिसे आज तक कान्यकुब्ज ने नहीं देखा। नृत्य का प्रबंध राजमंत्री इस तरह करेंगे कि पृथ्वीराज भी इस नृत्य की चर्चा सुनकर एक बार फिर तिरस उठें।

कारूनटी : दासी, माँ शुक्ल सरस्वती से शक्ति लेकर महाराजा का हुक्म पूरा करेगी, माँ शाकम्भरी दासी का मान रखेगी।

जयत्रीचन्द्र : पूरा परवास कमल के फूलों से सजा दो (नागरनटी की तरफ देखकर) तुम बतावो, नागरनटी कान्यकुब्ज में तुम कौन-सा नृत्य करोगी। यह सभा तुम्हारे नृत्य के बारे में जानने को उत्सुक है।

कारूनटी : माँ शुक्ल सरस्वती से मयूर-नृत्य के लिए आज्ञा मांगूँगी, महाराज।

जयत्रीचन्द्र : मयूर-नृत्य।

कारूनटी : हाँ, महाराज। इसके लिए कई रंगों के चूर्ण की तैयारी करनी पड़ती है। ताल पर पैरों को साधकर इसमें ग्यारह भ्रामिकाएँ खेली जाती हैं। प्रत्येक भ्रामिका अलग-अलग रंग के चूर्ण से खेली जाती है। ग्यारहवीं बार ऐसा दृश्य उपस्थित होता है कि पूरी रंगभूमि रंग-बिरंगी आभा से नृत्यरत मयूर की अपूर्व चित्रावली से दमक उठती है, महाराज।

जयत्रीचन्द्र : यह नृत्य अपूर्व होगा। इसके अमृत आनन्द से कान्यकुब्ज नगरी रसाबोर होगी। राज दरबार तुम्हारा नाम अपने इतिहास में लिखेगा, नागरनटी।

मंच पर प्रकाश मद्धिम होता है।

दृश्य - 3

— महाराजा जयत्रीचन्द्र की राजसभा

— कारूनटी का नृत्य आयोजन

मंच पर प्रकाश के साथ लावण्य से भरपूर शील और सौजन्य की उज्जवल मूर्ति कारूनटी नृत्य मुद्रा में खड़ी दिखाई पड़ती है, अपनी आराध्यदेवी की नृत्य आराधना कर वह ताल के लिए नृत्य इशारा करती है।

मंच पर सहायिकाएँ दोनों तरफ रंग-बिरंगे थाल लिए खड़ी हैं। प्रकाश की आँखें उन पर लग गई हैं। प्रकाश फिर मंच के बीच आ जाता है। प्रकाश की आँखें कारूनटी पर।

ताल के साथ नृत्य प्रारम्भ होता है। कारूनटी अलग-अलग रंग के चूर्ण से एक के बाद एक भ्रामिकाएँ प्रस्तुत करती है। ग्यारहवीं बार पूरी रंगभूमि आभा से नृत्यमान मयूर की आकृति से दमक उठती है। नृत्य के साथ प्रकाश का अपूर्व संयोजन कलात्मक दृश्य प्रस्तुत करता है।

नृत्यरत कारूनटी पर पड़ता कलात्मक प्रकाश धीरे-धीरे मंद पड़ता है।

दृश्य - 4

प्रकाश होता है तो मंच पर महाराजा जयचंद दिखाई देते हैं। सिंहासन आरूढ़ महाराज के सामने कारूनटी विनम्र मुद्रा में खड़ी है।

जयत्रीन्द्र : तुम्हारी अपूर्व नृत्य मुद्राओं के लिए भारतभूमि मुक्त कंठ से तुम्हारी प्रशंसा करेगी, कारूनटी। आज का नृत्य अपूर्व, अद्‌भुत। बहुत खूब।

कारूनटी : (कुछ नहीं बोलती है। विनम्र भाव से खड़ी है)

महामंत्री : (खड़े होकर) नागरनटी के नृत्य अमृत आनन्द से सराबोर जनता की तरफ से जयत्रीचन्द्र राजसभा कला साधिका का आभार व्यक्त करती है और नगरश्री के विरुद से सम्मानित करती है।

यह महाराज जयत्रीचन्द्र के आदेश की घोषणा है।

इतने में सहायिकाएं सम्मान-थाल और बहुमूल्य उपहार लेकर उपस्थित हो जाती है (मंच पर सहायिकाओं का प्रवेश)
महाराज अपने हाथों से कारूनटी को सम्मान देते हैं।

जयत्रीचन्द्र : इस महान नृत्य साधिका के सम्मान में पालकी की सवारी तैयार करें। कला साधिका की पालकी को राजा-महाराजा और सभ्रांत नागरिक और स्वयं कान्यकुंज नरेश अपना कंधा देंगे। उसके सम्मान में पालकी के साथ चलेंगे।
महाराजा जयचंद की आज्ञानुसार पालकी आती है। कारूनटी को सम्मानपूर्वक बैठाया जाता है। आए हुए राजा-महाराजा और संभ्रांत नागरिक पालकी को कंधा देकर कला साधिका का सम्मान करते हैं। महाराज जयचंद स्वयं पालकी को कंधा देकर पालकी के साथ चल रहे हैं।
मंच पर अपूर्व प्रकाश मद्धिम पड़ता हुआ ।

महाराज जयत्रीचन्द्र का अन्तःपुर
महारानी का कक्ष
प्रकाश के बीच मंच पर महाराज और महारानी वार्तालाप करते दिखाई पड़ते हैं।

महारानी: महाराज,एक नटी का इतना सम्मान कि कान्यकुब्ज महाराज खुद अपना कंधा देकर जुहार करें,जलेब में चलें।

जयत्रीचन्द्र : महारानी, कारूनटी नटी नहीं है, वह नगरश्री है। नागरनटी है। वह साधारण नहीं असाधारण नृत्यांगना है। वह पवित्र कला साधिका है। इसीलिए वह कान्यकुब्ज के लिए सम्मान योग्य है। कान्यकुब्ज नरेश ने उसका सम्मान कर एक अपूर्व कला और अद्‌भुत कला साधिका का सम्मान किया है। वह नगर लक्ष्मी है, महारानी।

महारानी : और महारानी सुहल देई कुछ भी नहीं?

जयत्रीचन्द्र : आप महारानी हैं। इस राजसभा, राजा और इस राज्य की। कारूनटी तुम्हारी दासी है।

महारानी :हमारे पास इस दासी के लिए हुक्म है।

जयत्रीचन्द्र : क्या? (उत्सुकता के भाव)

महारानी : नहीं पूछो तो ही सुन्दर है।

जयत्रीचन्द्र : महारानी आपका व्यवहार कारूनटी के लिए औदार्यपूर्ण होना चाहिए।

महारानी : महाराज, महारानी के अलावा किसी भी चौखूंटी के कंधा दें यह सुहल देई को स्वीकार नहीं है।

जयत्रीचन्द्र : (गंभीर मुद्रा में, उत्तेजना के भाव) महाराज फकत महारानी की चौखूंटी को ही कंधा देंगे, महारानी। इस हेतु हम आपको आश्वस्त करते हैं। परन्तु किसी कलाकार के लिए षड्‌यंत्र करना उचित नहीं है, महारानी। कारूनटी की पालकी को महाराज ने कंधा दिया है, चौखूंटी को नहीं। इतिहास इस बात का सम्मान करेगा। मुझे विश्वास है। कान्यकुब्ज महाराज ने पवित्र भाव से कला का सम्मान किया है, कला साधिका को सम्मान दिया है।

महारानी : महाराज, आप भावुक हो गए हैं, कारूनटी के प्रेम में।

जयत्रीचन्द्र : नहीं महारानी प्रेम नहीं। महाराज उसकी कला से प्रभावित हुए हैं और राजधर्म को निभाया है। हमें तुम्हारी बातों में ईर्ष्या की गंध आती है। एक बात और। अगर कारूनटी को तुम्हारे षड्‌यंत्रों का पता लग गया तो वह खुद ही चली जाएगी। कला साधक स्वाभिमानी होते हैं, महारानी, किसी के दास नहीं। न तो बंधे रहते हैं और न ही उन्हें बांधे रखा जा सकता है। (वे मुड़ जाते हैं) महाराज अंतःपुर से बाहर निकलते हुए दिखाई पड़ रहे हैं।
मंद प्रकाश में दृश्य अपनी पूर्णता की ओर अग्रसर है। धीरे-धीरे अंधकार।

तृतीय अंक

दृश्य - 1

—मार्दडिंग्क का कक्ष
—सांभर नगरी

प्रकाश में मंच पर वृद्ध मार्दडिंग्क अपने सेवक क साथ बातचीत करते दिखाई पड़ते हैं। वे तख्त पर बैठे हुए हैं और सेवक चरणों की तरफ।

सेवक : आपको नागरनटी के बारे में कोई सूचना है, महाराज।

मार्दडिंग्क : कारूनटी तुम्हें आज क्योंकर याद आ गई, सेवक?

सेवक : आपकी ताल पर वह पदविक्षेप भुलाया नहीं जा सकता महाराज। वह जीवंत चित्र सेवक की आँखों में आ गया, महाराज। आधी सभा रोवे और आधी हँसे का अपूर्व संयोग आपकी ताल और नागरनटी की नृत्यकला से ही संभव था, महाराज।

मार्दडिंग्क : हाँ, सेवक। आजकल वह राज राजेश्वर भगवान चंद्रमौलि विश्वनाथ की नगरी काशी में शरण ग्रहण किए हुए है। महाराजा जयचन्द्र की महारानी और दरबारियों के षड्यंत्रों से दुः खी होकर अपनी कला को पवित्र रखने का हेतु लिए वह काशी चली गई, सेवक।

सेवक : परन्तु वह कला-चन्द्रमा वाराणसी के गुणीजनों से छुप नहीं सकेगा, महाराज।

मार्दडिंग्क : कला की पहचान ही कला है, सेवक। यही कला और कलाकार का सम्मान है। उसका सच्चा जीवन है।

सेवक : कल मुझे किसी ने बताया था कि इस बार महाशिवरात्रि के दिन काशी में बहुत बड़ा आयोजन हो रहा है। अगर काशी में नागरनटी है तो वह उसमें पक्कायत आएगी महाराज। आपको भी जाना चाहिए।

मार्दडिंग्क : कोई काशी जानेवाले का पता करना पड़ेगा। साथ से ही जाया जा सकेगा अब।

सेवक : मैं जरूर पता करूंगा महाराज।

मंच पर प्रकाश धीमा पड़ने लग जाता है।

दृश्य - 2

मध्य भारत के राजा सातवाहन का दरबार।
राजसभा का दृश्य।

प्रकाश के साथ मंच पर सातवाहन नरेश सभासदों के बीच बैठे वार्तालाप करते दिखाई पड़ते हैं।
(एक गुणीजन का प्रवेश)

गुणीजन : महाराज, सांभरीनाथ महाराज पृथ्वीराज चहुंवाण की नगरी सांभर भूमि में पली, वहीं कला साधना में तपी, अपनी कला, शील सौजन्य एवं पवित्र भावना के कारण राजाओं के आपसी वैमनस्य और द्वेषपूर्ण घृणित षड्यंत्रों से त्रस्त होकर सत्तगुणत्यिका शुक्ल सरस्वती उपासिका नागरनटी अपनी कला को कलुषित होने से बचाने के लिए अब काशी नगरी में शरण लिए हुए है।

एक सभासद : इस नृत्य साधिका का सातवाहन नरेश के दरबार में सम्मान होना चाहिए, महाराज। इससे इस राजसभा का मान बढ़ेगा, देव।

सातवाहन : नृत्य साधिका नागरनटी को ससम्मान राजसभा में लाने का कार्य स्वयं सातवाहन नरेश करेंगे।

सभासद : महाराज की जय हो। कला प्रेमी नरेश की जय हो।

सातवाहन : हम स्वयं आग्रहपूर्वक कला साधिका को लाएंगे।

सभासदों के साथ सातवाहन का प्रस्थान। मंच पर मद्धिम प्रकाश होता है। धीरे-धीरे अंधकार।

दृश्य - 3

महाशिवरात्रि
काशी नगरी

प्रकाश में मंच पर एकदम सामने भगवान चन्द्रमौलि विश्वनाथ की छवि आँखों के सामने आ रही है। मंदिर का बड़ा वस्त्रचित्र मंदिर के दृश्य को जीवंत कर रहा है।

कारूनटी नृत्य मुद्रा में खड़ी है। ताल बजती है तो वह भगवान चन्द्रमौलि विश्वनाथ को अपना

नृत्य प्रणाम अर्पित करती है। शुक्ल सरस्वती का ध्यान कर माँ जगदम्बा शाकम्भरी का स्मरण करती है। ताल के दिव्य संयोजन के साथ नृत्य साधिका का पद संयोजन देखते ही बनता है। मंच पर 21 नगाड़ों का रूपक नृत्य संचालन में उभरता है। लगता है, जैसे नगाड़े नृत्यांगना के पैरों की ताल से बज रहे हों। पैरों की ताल से बजते नगाड़े लय-ताल का एक दिव्य वातावरण सृजित करते हैं। धरती-आसमान गूँज उठते हैं।

प्रकाश में सातवाहन नरेश नृत्य अभिभूत दिखाई पड़ते हैं। नृत्य पूर्ण होता है तो सातवाहन नरेश कारूनटी के पास आते हैं, कारूनटी विनम्र नमन मुद्रा में खड़ी है।

सातवाहन : इस अजोड़ नृत्य का आनन्द भगवान चन्द्रमौलि के प्रताप से नगरवासियों को मिला। कारूनटी का नृत्य अपना जोड़ नहीं रखता। सातवाहन इस नृत्य को सम्मान देते हुए कारूनटी को 'भगवती विष्णुप्रिया' के विरुद से सम्मानित करता है और समृद्ध जागीर देने की घोषणा करता है। हमारी इच्छा है, विष्णुप्रिया अपने परिवार कबीले सहित वहाँ बसे।

सहायिकाएं सम्मान-थाल और बहुमूल्य उपहार लेकर आती हैं। भगवान चन्द्रमौलि के दरबार में 'भगवती विष्णुप्रिया' के विरुद से नृत्य साधिका का सम्मान किया जाता है।

मंदिर प्रांगण भक्तिरस से सराबोर तालियों की गड़गड़ाहट से गूँज उठता है। नैपथ्य से आवाज आती है— भगवान चन्द्रमौलि विश्वनाथ की जय हो। भगवती विष्णुप्रिया की जय हो।

अंधकार

दृश्य - 4

प्रकाश में विष्णुप्रिया मंदिर प्रांगण से बाहर आती हुई दिखाई पड़ती है। मंदिर के बाहर मार्दडिंग्क अपने सेवक के साथ कारूनटी से मिलते हैं। मंच पर प्रकाश के सामने कारूनटी और मार्दडिंग्क तथा सेवक दिखाई पड़ रहे हैं।

कारूनटी : (पास आकर नमनवर) प्रणाम गुरुवर।

मार्दडिंग्क : कैसी हो विष्णुप्रिया।

कारूनटी : आपकी तो कारू हूँ गुरुवर।

मार्दडिंग्क : मुझे पता लगा कि तुम महाशिवरात्रि के पवित्र अवसर पर काशी विश्वनाथ मंदिर में नृत्य करेगी तो तुमसे मिलने चला आया।

कारूनटी : किरपा कीनी, गुरुवर। आपका पवित्र स्नेह मेरी कला को सनमान है, गुरुवर।

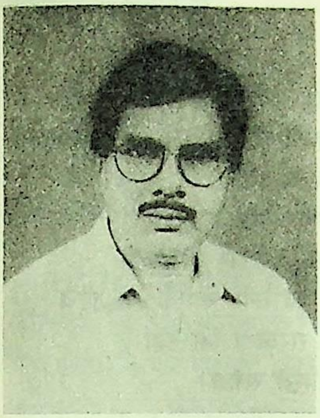
मार्दडिंग्क : तुम्हें सम्मान मिल गया है, कारू। जागीर देकर सातवाहन नरेश ने तुम्हें जमीन दे दी है। तुम अपने कबीले के साथ अपनी कला से इस जमीन को पोखो। कला का मान बढ़ाओ। मेरा आशीर्वाद है तुम्हें।

कारूनटी : महाराज सातवाहन ने मुझे यह उपहार दिए हैं, गुरुदेव। मेरे मन की पवित्र भावना आपके चरणों में यह बहुमूल्य उपहार अर्पण करना चाहती है, गुरुदेव।

मार्दडिंग्क : नहीं बेटी। ये तुम्हारा सम्मान है। बाप बेटी को देता है, लेता नहीं। मैं भगवान चन्द्रमौलि के दर्शन करने और तुमसे मिलने आया था। मेरे दोनों काम हो गए। अब मैं वापस सांभर नगरी जाऊँगा। तुम्हारे कबीले वालों को तुम्हारी जागीर की सूचना दूँगा। वे तुम्हारे पास अवश्य आएंगे। तुम्हारे साथ रहेंगे।

कारूनटी मार्दडिंग्क के चरणों में गिर जाती है। मार्दडिंग्क उसे बेटी की भाँति उठाकर छाती से लगाते हैं।

❑



कृपासिन्धु नायक

रूपांतर : मधुसूदन साहा

बया पाखी का दुःख

प्रत्यूष वेला,
बया पाखी की उनींदी पलकों में
दुःख के आखिरी टुकड़े एवं
अंतिम तारे को छोड़
लगभग सभी सितारे अदृश्य
वह अब फिर से लौट जाएगा
स्वच्छ आकाश की ओर
इसी प्रतीक्षा में तो वह
झेलता रहा है
तमाम रात निविड़ अंधकार को।

पौ फटते ही
नन्हीं-सी बछिया
छलांगने लगी इधर-उधर
पिंजड़े का सूआ
गाने लगा प्रभाती
किन्तु बया पाखी
उजासी में डूब जाने की तमन्ना के बावजूद
पंख पसार कर
उड़ जानेवाला उद्यत मन होते हुए भी
अंधकार को
अपने से अलग नहीं कर पाता।

ओड़िया कविता

कृपासिन्धु नायक : 1946, ग्राम- दीवानपुर शासन, कटक (उड़ीसा)।शिक्षा-एम.बी.बी.एस.।ओड़िया के जाने-माने कवि तथा नाटककार, मंचीय तथा रेडियो नाटक का लेखन। विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में सैकड़ों कविताएं प्रकाशित। प्रकाशन : कागज घेरर काव्य, भंगा समय (कविता-संग्रह) कई कविताओं का हिन्दी एवं बांग्ला में अनुवाद।गंगाधर मेहेर एवं आदि कवि सारला दास पुरस्कार तथा रंगमंचीय नाटककार के रूप में सम्मानित। उड़िया के चर्चित मासिक 'नवपत्र' के संपादक मंडल के सक्रिय सदस्य। संप्रति- राउरकेला होमियोपैथी मेडिकल कालेज में शल्य चिकित्सा विज्ञान विभाग के अध्यक्ष। - संपादक

अंधकार और प्रकाश की
आँख-मिचौनी से अभिभूत बया पाखी को
जब अंधकार माँ की तरह
अँकवार लेता तो
प्रकाश भी ममतामयी जननी की भाँति
दौड़कर आता
और आँसू पोंछ जाता
वह किसके पास जाए
किसे अपनाए
और किसे दुत्कारे?

उसके मन में हैं
अनन्त आशंकाएँ
अनेक संशय
क्या अधिकार है उसका
प्रकाश और अंधकार के ऊपर?
वह तो स्रोत को समर्पित
एक सूखा पत्ता मात्र है
चुपचाप बह जाना ही
उसकी नियति है?

●

असमय

किसी अलगाववादी के उपद्रवी हाथों से
लम्बी रेल की पटरी के
टूटे हुए एक टुकड़े की तरह
असहाय खण्डित समय
प्रश्नित वर्तमान।

उस टूटी हुई पटरी की छाती पर
महामेरु की तरह
माटी का ढेर
जैसे जकड़ रखा हो उसे कसकर अपने पंजों में

तेज रफ्तार में दौड़नेवाली रेलगाड़ी के
इधर-उधर गिरे हुए वीभत्स डिब्बे
किसी विभीषिकामयी रात के
हाहाकार में डूबा
यह क्षत-विक्षत मरणासन्न दृश्य
एक-दूसरे पर लदे हुए लहू-लुहान शव
और शोक में डूबी हुई
आज की सूर्यहीन सुबह।

कराल काल का यह अदृश्य दंश
इतने सारे निरीह लहू के लिए
बौराये हुए मुट्ठी भर युवा
किसी स्वप्निल स्वर्ग में विचरण हेतु
विडंबना भरे घोर जंगल की
अंधी पाशविकता के
अभिशप्त इतिहास के काले पृष्ठों की
पुनरावृत्ति करना चाहते हैं
जल, वायु, आकाश और वसुंधरा को
टुकेड़-टुकड़े में बाँट देना चाहते हैं।

दीमकों की बांबी को चीरकर
बाहर आनेवाला यह बेलगाम आतंक
यहां-वहां, इधर-उधर, सब जगह
रास्तेमें, चौराहे पर, बाजार में, बस में
रेल में, हवाई जहाज में, भुजाली में, बन्दूक में
बम में, आलिंगन में, चोट में, चुम्बन में
सब जगह एक जानलेवा दहशत
चाक कर देनेवाले धारदार अंधेरे में
रक्त से लथपथ जहरीली ज्वाला के बीच
रेंगता हुआ आगे सरकता जा रहा है
आज का यह संत्रस्त समय।

नज़रों के सामने फैला हुआ
आहत वर्तमान
जहाँ समय
उजड़े हुए खेत की तरह वीरान
भूकम्प में गगनचुंबी अट्टालिकाओं की तरह
भड़भड़ाकर गिरे मलवे-सा निरुपाय
भस्मीभूत विमान से बाहर लाए
ढेर सारे विकलांगों-सा भयावह
दोनों हाथों में कटा हुआ सिर लिए
अट्टहास करते हुए कापालिक-सा विकराल
आसुरिकता से उन्मत्त प्रलय के समान
अपने तांडव का एहसास दिलाता है।

न जाने कब
वह लाल टुसटुस सिन्दूरी सुबह आकर
परिपूर्णता की छुवन से लहलह कर देगी
इस क्षत-विक्षत, लहू-लुहान
शून्यता से भरी धरती को।

न जाने कब
समुद्र तट से
लहरों को आन्दोलित करनेवाली हवा लौटेगी
और कब होगा
आशंकाविहीन जीवन में
विश्वास का संचरण
पुलकित प्रेम का प्रत्यावर्तन?

❑

पुस्तकालोचन

अगली शताब्दी का शहर/श्रीलाल शुक्ल

शशिकला त्रिपाठी

विविध विधाओं का बहुरंगी अनुभव

बीसवीं सदी की तमाम उत्तेजक परिस्थितियाँ— आजादी, विभाजन की विभीषिका, समाज की जड़ों तक भ्रष्टाचार का गहराना, बेरोजगारी, रिश्वतखोरी का बढ़ता ग्राफ, साम्राज्यवादी सांस्कृतिक-आक्रमण, आर्थिक उदारीकरण के जरिए भारत का विश्वग्राम का हिस्सा बनना, नेताओं का घोटाले के लिए जेल यात्रा करना आदि विसंगतियों के परिदृश्य में श्रीलाल शुक्ल विविध विधाओं— कहानी, हास्य-व्यंग्य, निबंध, आत्मकथा, संस्मरण में लेखन करते हैं। ये रचनाएँ आधी शताब्दी 1959 और 1994 के बीच रची गई हैं जो पुस्तक में पाँच खण्डों में विभाजित हैं। प्रथम खण्ड कहानियों का है। शुक्ल जी की कहानियों का संदर्भ समाज है, व्यक्ति नहीं। नए कहानीकारों की भाँति उनके कथा-साहित्य में बनते-बिगड़ते, टूटते रिश्तों की कहानी नहीं होती और न ही उनसे उपजे प्रेम, संत्रास, कुंठा आदि के भाव। उपस्थिति होती है उन संस्थाओं और चरित्र की; जिनके जरिए देश, समाज को गति देने की बात कही जाती है। मसलन, मंत्रिमण्डल, सरकारी महकमे, न्यायालीय व्यवस्था, क्रांति लानेवाले क्रांतिकारी, न्याय दिलाने वाले वकील, जनादेश पर बने मंत्री और इन सबकी कथनी करनी की विलोमता, अनैतिकता, लूट-खसोट, अनाचार और माफियाओं का गठन। देश का भौतिक विकास तो हो रहा है किन्तु, नैतिकता चुकती जा रही है। वह 'नैतिकता' जिसे समाजवादी डॉ. राममनोहर लोहिया हर कीमत पर बचाए रखने पर बल देते थे। मूल्यों का यह पतन देश को कहाँ ले जाएगा, यह चिन्ता लेखक की कहानियों में व्यक्त होती है। इन विरूपताओं की अभिव्यक्ति अभिधा शब्द शक्ति में निश्चित ही संभव नहीं है। जब परिस्थितियाँ विषम होती हैं तो भाषा व्यंग्य से लबरेज हो जाती है। रचनाकार संवेदन और भाषिक स्तर पर विशिष्ट होता है। अतः वह सिर चढ़कर बोलने लगे तो आश्चर्य नहीं। श्रीलाल शुक्ल ऐसा ही करते हैं।

शुक्ल जी का ध्यान समाज के सकारात्मक विषयों पर नहीं जाता। वे एक कार्टूनिस्ट की भाँति सामाजिक-विद्रूपताओं का ही रेखांकन करते हैं। बहुत गहरे डूबकर आनुभूतिक ताना-बाना के जरिए कथात्मकता नहीं लाते। उन्हें तो महाभारत के अर्जुन की तरह वह चिड़िया की आँख दिखाई देती है। यह उनकी शक्ति है और सीमा भी। शायद यही वजह है कि पत्रकारिता से न जुड़कर पत्रकार होने का आभास देते हैं।

'अगली सदी का शहर' में कहानीकार मूल्यहीनता को दर्शाता हुआ यह कहना चाहता है कि आज राजनीति का अपराधीकरण हो गया है। माफियाओं की सक्रियता बीसवीं सदी के अंत का ही सच नहीं, इक्कीसवीं सदी का भी सच होगी। 'द ग्रैंड मोटर मोटर ड्राइविंग स्कूल' कहानी भी लोकतंत्र में आई विकृतियों की ओर संकेत करती है। स्वातंत्र्योत्तर समाज का यह दुःखद राजनीतिक सच है कि आज की लोकसभा, विधान सभा व मंत्रिमंडल में अयोग्य नेताओं का प्रवेश हो रहा है, जिनकी सारी उठा-पटक खुद को व अपने परिवार को कई पीढ़ियों तक स्थापित कर देने की होती है। विडम्बना यह कि जनता शिक्षित होकर भी 'अन्याय जिधर है उधर शक्ति' में अपनी सुरक्षा ढूंढती है।

न्यायालय लोकतंत्र का महत्त्वपूर्ण स्तम्भ है। न्याय दिलानेवाला वकील अगरचे, स्वयं आपातमस्तक अन्याय में डूबा हो तो वह क्या न्याय दिलाएगा? इसी चिंता से जोड़ता है पाठक को रचनाकार 'सम्पर्क जी का सम्पर्क' में 'सत्यापन', 'तस्दीक' और 'वेरिफिकेशन' की अलग-अलग फीस बताने वाले सम्पर्क जी स्त्री मुवक्किल का दोहरा शोषण करते

हैं। 'एक छोटा सा कानूनी सवाल' में श्रीलाल शुक्ल वकील पेशे में आई विकृति का एक कारण एल.एल.बी. की पढ़ाई का गम्भीरता से न लिया जाना मानते हैं। अवमूल्यन के इस दौर में क्रांतिकारी भावुकता, आन्दोलन, सुधार कार्य आदि का भी व्यवसायीकरण हो गया है। 'एक निर्लिप्त भावुक की कथा' के शुरू के क्रांतिकारी मिट्टी का तेल, कोयला, स्पिरिट जैसी चीजों का कालाबजारी कर कंक्रीट के ठोस महल खड़ा कर लेते हैं। ऐसे परिवेश में अगर कोई ईमानदार है, सादगी से रहता है तो वह लोगों की नज़र में बेचारा हो जाता है। उसके प्रति दयाभाव भी दर्शाया जाता है कि उसकी जिन्दगी रामभरोसे ही चल सकती है। यह सच है कहानी 'एक बहुत सीधा आदमी का'।

'नाकाम क्यों हुआ नियोजन' में तीखा व्यंग्य है सरकारी महकमे पर। मध्यम सरकारी नौकर 'परम स्वतंत्र सिर पर कोउ नाहीं' की भावना से हरामखोरी करते हुए भी निश्चिंत होते हैं। 'स्वास्थ्य एवं परिवार कल्याण मंत्रालय' के कार्यालय का एक नमूना पेश किया है।

द्वितीय खण्ड के 'आठवीं अनुसूची : ये माजरा क्या है?' शीर्षक में लेखक आठवीं अनुसूची को निरर्थक बताता है जिसके दोनों अनुच्छेदों में राजभाषा हिन्दी की प्रगति और प्रचार के संदर्भ हैं। निबंध 'हिन्दी कथा साहित्य और सामाजिक यथार्थ' में श्रीलाल शुक्ल ने उन्नीसवीं सदी के यूरोप, फ्रांस आदि में उभरे विचारों की प्रस्तावना में स्थापना दी है। बीसवीं शती के पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध का विवेचन करते हुए लेखक ने कुछ स्वातंत्र्योत्तर रचनाकारों पर आरोप लगाया है कि आज के रचनाकारों में यथार्थ निरूपण के कारण निराशावाद का भाव है जबकि जीवन के प्रति सकारात्मक दृष्टिकोण होना चाहिए। अगर रचनाकार सामाजिक परिवर्तन की वकालत कर रहा है तो जाहिर है कि उसकी निगाह में साहित्य, संगीत और कला की अर्थवत्ता जीवन के लिए ही होगी। इसीलिए, अपने समीक्षात्मक लेख 'संगीत और समझ' में शुक्ल जी ने पुस्तक 'कोशिश संगीत समझने की' के लेखक पर यह गम्भीर आरोप लगाया है कि वे रूढ़ और जड़ीभूत अवधारणा के शिकार हैं। 'हिमालय के दो सप्ताह' यात्रा-वृतांत है जो लेखक के प्रारम्भिक लेखन की रचना-प्रक्रिया पर रोशनी डालती है।

तृतीय खण्ड के दोनों आत्मकथ्यों— 'मैं लिखता हूँ इसलिए कि...' और 'मेरी कथायात्रा के कुछ मोड़' में श्रीलाल शुक्ल ने अपनी रचनाधर्मिता को व्याख्यायित किया है। लिखते क्यों हैं, यह सवाल तो उत्तरित नहीं होता मगर, यह जरूर स्पष्ट होता है कि लेखन महज कागज, कलम का इस्तेमाल नहीं है। सरकार किसी की भी हो, दूरदर्शन आकाशवाणी पर विकास के बढ़ते ग्राफ ही दिखाए जाते हैं। इस झूठे प्रचार के खिलाफ़ ही लेखक ने कलम उठाई है। रचनाकार घोषित तौर पर प्रगतिशील न होकर भी प्रगतिशील है। उसकी प्रतिबद्धता 'मनुष्यता' से है।

चतुर्थ खण्ड की कहानी 'शिष्टाचार' में सामंतियों के अन्तर्विरोध और दो-मुँहेपन का पर्दाफाश किया गया है। इस कहानी को प्रथम खण्ड में संकलित किया जाना चाहिए था। और न ही 'पद्मप्राभृतक: कथासार' के संग्रह का उद्देश्य समझ में आता है। पुस्तक में बीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध के लेखकों— वृन्दालाल वर्मा, अमृतलाल नागर और भगवतीचरण वर्मा पर लिखे संस्मरण संकलित किए हैं। इनके अतिरिक्त भी संस्मरण हैं देवीशंकर अवस्थी एवं सफदर हाशमी पर।

'वृन्दावनलाल वर्मा की जन्मशती पर' लिखे लम्बे आलेख में व्यक्तित्व-कृतित्व का समुचित मूल्यांकन किया गया है। 'भगवती बाबू' में भगवतीचरण वर्मा के कृतित्व का आंशिक और व्यक्तित्व का अधिक विश्लेषण किया गया है। सफदर हाशमी की हत्या पर एक छोटी-सी टिप्पणी है 'हत्या की राजनीति और वे'। शुक्ल जी के मतानुसार, हाशमी

राजनीतिज्ञों के लिए एक पाठ हैं। मुहूर्त भर प्रखरता के साथ जलना अच्छा है न कि दीर्घकाल तक धुँआते रहना। अधिक अच्छा होगा अगरचे हाशमी को बुद्धिजीवियों के लिए भी आवश्यक पाठ बताया जाता। 'विवेक के रंग' के लेखक देवीशंकर अवस्थी के लिए दिया गया है। देवी शंकर की मृत्यु हिन्दी आलोचना की अपूरणीय क्षति है जो दिनोंदिन गहराती जा रही है।

यह कहना अतिशयोक्ति न होगा कि श्रीलाल शुक्ल की आलोचना-प्रकृति प्रखर है। यदि वे आलोचना को सम्पन्न बनाने का ही प्रयत्न करते तो भी उनके वर्तमान यश में कमी न होती। खूबी यह कि जिस रचनाकार के व्यक्तित्व-कृतित्व की पड़ताल करते हैं, उसी की भाषा और तर्ज का हथियार लेकर। इससे आलोचना में धार और रोचकता दोनों बन पड़ी है।

'हिन्दी कथा साहित्य और सामाजिक यथार्थ' में शुक्ल जी ने एक पते की बात कही है— देश को खतरा बाहर से नहीं, भीतर से है। यह, चिंतनीय सत्य है। जातिवाद, भाषावाद, उग्र राष्ट्रवाद और साम्प्रदायिकता की जड़ें गहरी होती जा रही हैं। पर, दुर्भाग्य का विषय यह है कि आलोच्य पुस्तक में एक भी कहानी या लेख ऐसा नहीं है जिसमें साम्प्रदायिकता का संदर्भ हो। जबकि, यह समस्या आजादी के पूर्व से अब तक बरकरार है। किसी खास विचारधारा से लेखक का जुड़ाव हो, ऐसा नहीं लगता। हाँ, दलितों-शोषितों के प्रति उनकी पक्षधरता आलोचनात्मक लेखों से अवश्य प्रकट होती है। यानी, प्रतिबद्धता मनुष्यत्व के प्रति है। बेशक, बहुरंगी विधाओं का एक साथ अनुभव पाठक को देने में लेखक सफल हुआ है और पाठक लेखक के सम्पूर्ण सृजनधर्मिता का बखूबी परिचय भी पाता है।

❑

किताबघर, 24, अंसारी रोड, नई दिल्ली-110002
प्र. संस्करण : 1996, मूल्य - 75 रु.

यात्राओं की यात्रा/ निबंध/विद्यानिवास मिश्र

कृष्णबिहारी मिश्र

विचार की ललित यात्रा

'यात्राओं की यात्रा' सीमित अर्थ में यात्रा साहित्य नहीं है, यात्रा के ब्याज से रचित ललित निबंधों का संग्रह है। लेखक ने स्वीकार किया है कि 'यात्राएं मेरे लिए जगहों की पहचान से अधिक अपनी पहचान के अवसर रही हैं।' अपनी पहचान की चिन्ता और मुखर स्वकीयता ललित निबंध की प्रमुख पहचान है। 'यात्राओं की यात्रा' में यही निजता है। और वनों, पहाड़ों, गाँवों, गुफाओं, मन्दिरों-घाटों पर मौन-मुखर मुद्रा में लेटे सौन्दर्य का और सौन्दर्य की उदात्त ध्वनि का शीर्षस्थ निबंधकार ने अपनी ललित शैली में चित्रांकन किया है।

यह सच है कि 'यात्रा के लिए शौक से अधिक उमंग चाहिए और जो यात्रा मनुष्य या प्रकृति की अन्तः शक्तियों की खोज के उद्देश्य से की जाती है, उसके लिए उमंग के साथ-साथ तप की भी भावना आवश्यक है। तभी इन यात्राओं से मधुर फल मिलने की आशा की जा सकती है।' और स्वीकार किया है पं. विद्यानिवास मिश्र ने, 'मुझे अपने जीवन में इन यात्राओं से ही रस मिलता है और दृष्टि मिलती है।' जाहिर है, उनमें यात्रा प्रियता के साथ तप-निष्ठा भी है, तभी परिणत वय में भी वे किसी हांक का अनुधावन करने के लिए सदा उद्यत बैठे रहते हैं, और देश-विदेश के नेवते उनकी पण्डिताई और प्रतिभा को आहूत करते ही रहते हैं। अपने रस-कोठा को समृद्ध करने, अगोचर-सौन्दर्य का आस्वाद लेने और दृष्टि अर्जित करने के हर अवसर का वे पूरी जागरूकता से लाभ उठाते हैं। उनकी यात्रा का इससे मधुर फल और क्या हो सकता है कि प्रत्येक यात्रा एक रचना का रूप देती है।

अपने को 'घरपोस' मानने वाले पं. विद्यानिवास जी 'घरघुस' तो कतई नहीं हैं, 'कहीं भीतर कोई

यात्री मन में है, बेचैन कि किस-किस प्रकार पराई जगहों में अपनेपन की उजास दिखती है, कैसी-कैसी नई ऊष्मा मिलती है और आदमी को आदमी की बातचीत से, आदमी से अधिक आदमी को उच्छवासित करने वाले उसके परिवेश से, बातचीत से।' 'यात्राओं की यात्रा' में संकलित उनके निबंधों में सौन्दर्य की उजास, संवेदना की सर्जनशील ऊष्मा और व्याकुल बना देनेवाला उच्छवासित भाव दिखाई पड़ता है, जो 'एक अभिशप्त विरही स्वभाव' की अविराम सक्रियता की कमाई है।

यह विलक्षण संयोग रहा है कि अपने स्वभाव-संस्कार के सर्वथा विपरीत दो कृती यायावर—राहुल सांकृत्यायन और अज्ञेय के स्नेहभाजन और सारस्वत सहचर रहे हैं विद्यानिवास मिश्र। पर उन यायावर साहित्यकारों की यात्रा और विद्यानिवास जी की यात्रा में मूलभूत अंतर है। यात्रा के लिए यात्रा और प्रयोजन-विशेष से आयोजित यात्रा का भेद स्पष्ट है। राहुल जी और अज्ञेय जी की यात्राओं का नि:संदेह एक बड़ा उद्देश्य भी था। मगर उनकी दृष्टि में यात्रा अपने आप में एक बड़ा प्रयोजन था। यात्रा की स्वतंत्र महत्ता को बड़े बल के साथ पं. विद्यानिवास मिश्र भी रेखांकित करते हैं। पर 'यात्राओं की यात्रा' में संकलित निबंध प्रमाण हैं कि घुमक्कड़ भाव से नहीं, विशेष प्रयोजन से विद्यानिवास जी को यात्र पर निकलना पड़ता है, तो वे सोत्साह अपनी यात्रा पूरी करते हैं और यात्रा से जुड़े प्रसंग को उपजीव्य बनाकर ललित निबंध रचते हैं। राहुल और अज्ञेय के यात्रा साहित्य और 'यात्राओं की यात्रा' को देखने पर यात्रा साहित्य और रम्य रचना का अन्तर स्पष्ट हो जाता है। इसी बुनियादी अन्तर को लक्ष्य कर संकेत किया गया कि यात्रा साहित्य से भिन्न प्रकृति है इस पुस्तक की, यद्यपि यात्रा पर केन्द्रित और प्रवास-प्रसंग से जुड़े निबंध ही इस पुस्तक में संकलित हैं, तथापि सीमित अर्थ में इसे यात्रा साहित्य के विभाग में नहीं रखा जा सकता। यह 'यात्राओं की यात्रा' है। यानी रम्य रचनाओं का संकलन। और जागरूक समझ से पुस्तक का नामकरण किया गया है। निबंधों के सर्वथा अनुरूप संकलन का व्यंजक नाम।

लेखक का सांस्कृतिक विवेक यात्रा के प्रत्येक परिदृश्य में हस्तक्षेप करता है, 'मनुष्य की विकास यात्रा क्या जीवन की सहजता को खोकर है?' इस तरह के ज्वलंत सांस्कृतिक प्रश्न विभिन्न प्रसंगों में दिखाई पड़ते हैं, जो लेखक की संवेदना और संस्कृति-चिंता के परिचायक हैं। जगन्नाथपुरी में लेखक की आस्था रोशनी रचती है, 'प्रभु गाँठोवाली ग्रंथिवाली माला, ग्रंथिवाला मन कितना भी सुन्दर क्यों न हो, स्वीकार नहीं करते; प्रभु इसकी गांठें खोलिए।' इसी प्रकार विंध्य प्रदेश के ध्वस्त मन्दिरों और खंडित मूर्तियों को देखकर लेखक का सांस्कृतिक मानस उद्वेलित होता है, 'बड़ा दर्द होता है जब मूर्तियों को हम खण्डित और मन्दिरों को ध्वस्त देखते हैं, प्रकृति के हाथों से ही नहीं, बल्कि बर्बर कलाध्वंसक मनुष्य के हाथों से, जो मनुष्य यह विश्वास नहीं कर सके कि कला और धर्म के बीच समन्वय हो सकता है तथा धर्म मानव-जीवन के चरम आनन्द के लिए है और उसके जीवन का उल्लास है केवल एक दुराग्रह और कठोर सैनिक नियंत्रण का अनुशासन नहीं।' विश्व परिदृश्य में सांस्कृतिक अधोगति को लक्ष्य कर पं. विद्यानिवास मिश्र सवाल खड़ा करते हैं, 'क्या संस्कृति केवल शोर है? वह मौन नहीं है। और बीच-बीच में मौन से अगर जुड़ी नहीं होती तो वह चीख बन जाती। वह संगीत कभी नहीं बन पाती। क्या आनेवाली शताब्दी चीख की शताब्दी होगी?' ऐसे ही तीखे सवाल द्वारा वे अपने सहचर के क्षोभ को शांत करना चाहते हैं, जो पंडों की अर्थ-लिप्सा से उत्तेजित हो उठे थे, 'उन्हीं का अर्थलोभ क्यों चुभता है जब यह लोभ बड़े-से-बड़े सिद्धान्तवादियों को और मूल्यवादियों को ग्रसे हुए है।' उनके सहचर का समाधान इस प्रश्न से चाहे जिस मात्रा में हुआ हो, सिद्धान्त बघारने वालों के सामने चुनौती के

रूप में खड़ा है और आत्मावलोचन को प्रेरित करता है कि मूल्यों की पक्षधरता की भाषा आज इतनी प्रभावहीन क्यों हो गई है।

सांस्कृतिक-दार्शनिक प्रश्नों पर गंभीर मुद्रा में दृष्टिपात करने वाले संस्कृत यात्री पं. विद्यानिवास मिश्र के रचनाकार की सर्जनशील संवेदना 'धान-पान' से गहरे में जुड़ी है। उसकी सुधि ही कदाचित इनकी सबसे बड़ी थाती है, जिसे जागरूक यत्न से वे अम्लान बनाए रहते हैं, और शायद तभी उनकी रचनात्मक ऊर्जा क्षीण नहीं होती। आसमान में उड़ने वाले की निष्ठा अपनी गंवई डड़ार के प्रति पुष्ट हो तभी सौन्दर्य-कोष निरन्तर समृद्ध होता रहता है। इस बिन्दु पर विद्यानिवास जी का विवेक अतिशय जागरूक है। अमरीका प्रवास काल में 'धान-पान' ही उनका प्रीतिकर संबल था, जो वस्तु-प्राचुर्य के चाकचिक्य की ठगिनी मुद्रा के प्रति उन्हें सचेत बनाए रहता था। वह विवेक अनुशासित संस्कार था।

और विवेक ही है कि विविध सम्मान से समृद्ध पं. विद्यानिवास मिश्र लोक-सम्मान की व्यर्थता पर तत्वचिन्तक की मुद्रा में टिप्पणी करते हैं, 'सम्मान से सन्त घबराते थे, इसलिए बौराए नहीं थे, है वह मीठे जहर के समान, धीरे-धीरे खाता है। .....शीशेदानी के भीतर बन्द होकर सुनहली मछली की तरह इतराना और लहराना दूसरों को मुबारक हो। मैं भली-भाँति समझ गया कि यह सम्मान एक व्यामोह है।'

'यात्राओं की यात्रा' का पाठक-समाज उसी सहृदय-दृष्टि से स्वागत करेगा, जिस दृष्टि से पं. विद्यानिवास जी के पहले के निबंध-संग्रहों को पढ़ता-सराहता रहा है। मगर यह भी है कि यात्रा और यात्रा-साहित्य के प्रति जिसके हृदय में उत्कंठा और आग्रह है, उसे भी यह पुस्तक भरपूर तुष्टि देगी। ❑

प्रवीण प्रकाशन, 1/1079-ई, महरौली, नई दिल्ली- 110030
प्र. संस्करण : 1996 , मूल्य - 125 रु.

जाने लड़की पगली/काव्य-संग्रह/ सुनीता जैन

हरिमोहन

स्मृतियों के दरवाजे से लड़की का माँ की आत्मा में प्रवेश

सुपरिचित कवयित्री सुनीता जैन का नया कविता-संग्रह 'जाने लड़की पगली' समकालीन कविता में एक नई दुनिया लेकर उपस्थित हुआ है। यह दुनिया हमारी अत्यंत निजी, किन्तु प्रायः उपेक्षिता-माँ की अकथ पीड़ा से जुड़ी है। कवयित्री की पीड़ा इतनी घनी और प्रामाणिक है कि इन कविताओं में महाकाव्य-का-सा फैलाव आ गया है। यों भी क्या एक माँ का जीवन अपने आप में किसी महाकाव्य से कम होता है? फिर आज के आपाधापी वाले भौतिकवादी समय में हमारे निजी सम्बन्धों में जो बिखराव आया है, जैसा ठंण्ढापन पसर गया है, वह एक माँ की पीड़ा के बहाने समूची स्त्री की पीड़ा का महाकाव्य रचने के लिए पर्याप्त है। सुनीता जैन जो प्रश्न हमारे सामने उपस्थित करती हैं, वे बेचैन और निरुत्तर करने वाले हैं। वे पूछती हैं : माँ क्या केवल माँ है? कुछ और नहीं? / केवल एक भूमिका है। 'रोल' है? नारी नहीं? वह देती है। देती रहती है। मर्माहत क्या होती नहीं? / रोती नहीं? / हम लेते हैं। लेते रहते हैं। नाते क्या कुछ और नहीं? माँ धरती से भारी है। क्या स्पन्दन नहीं?'

इन यक्ष प्रश्नों की अनुगूँज संग्रह की लगभग सभी कविताओं में सुनी जा सकती है। संग्रह की इन कविताओं के केन्द्र में माँ-बेटी-बेटे और घर है। बच्चों की जगह पर हमने 'माँ, बेटी और बेटे' कहा है, तो इसका स्पष्ट आशय है कि एक बेटी माँ के बहुत निकट है, इतना निकट बेटे नहीं। बेटी ही माँ की पीड़ा को बेहतर ढंग से समझ सकती है। जैसे माँ के बिना न घर हो सकता है, न बच्चे, वैसे ही लगता है कि माँ के बिना ये कविताएँ भी नहीं हो सकती थीं। माँ मात्र एक

शब्द नहीं, न एक औपचारिक सम्बंध। वह हर जगह उपस्थित रहती है।

लम्बी कविता 'जीते जीते बिन तेरे' में वे बचपन के बिम्बों के सहारे माँ की आत्मा में प्रवेश करती हैं, सर्वत्र माँ को देखती हैं और शून्य हो चुकी माँ के साथ अभिन्नता पाती हैं। इस अभिन्नता को हर कोई न जान सकता है, न पसन्द कर पाता है। उन्हीं के शब्दों में :

मुझे मालूम है कि मेरी/ अस्मिता की जो शेष/ सार्थकता है, वह है मेरी अभिन्नता,/ मुझे मालूम है यह भी/ कि किसी को किसी का प्यार नहीं रुचता, भले/ वह हो माँ से बेटी का, / मुझे बावरी कहलाना/ स्वीकार है, पर नहीं स्वीकार कि मैं या तुम/ हार कर रह जायें यहाँ- / मृत्यु से/ विस्मृति से अंधकार से। (पृ. 37)

घरेलू और आत्मीय वातावरण के रचने में एक माँ की अहम् भूमिका है। जब माँ नहीं रहती, तो सिवाय एक खालीपन के क्या शेष रहता है? इसलिए जहाँ एक बेटी की यह अनुभूति यों व्यक्त होती है :

एक थी वह/ एक मैं/ हम दोनों का रिश्ता/ फलियों में दाने सा, भीगे सूरज सा,/ गई-गई सर्दी के/ गरमाते दिन सा एक थी वह/ एक मैं/ वह तो चल दी/ रह गई मैं। (पृ. 127)

वहीं अपनों से, अपने बेटों से घायल माँओं की पीड़ा इस प्रकार शब्द पाती है :

दिन-दिन/ बेटों से घायल/ होती रहती हैं माँएँ, कहती नहीं किसी से। (पृ. 102)

यह पीड़ा किसी से न कह सकने की पीड़ा से और अधिक बढ़ जाती है। जब अपने ही दुःख दें, तो उस दुःख को किससे कहा जाए?

माँओं से बेटे निरन्तर दूर होते चले जाते हैं। भौतिकता की चपेट में ये रिश्ते भी आ चुके हैं। कुछ बेटों की मजबूरी, कुछ जीवन-मूल्यों का बदलाव। निज से बाहर निकल सुनीता जी ने घर-घर के इस दुःख को वाणी दी है। उन्होंने बड़े ध्यान से, अन्तर्दृष्टि से स्थितियों को देखा है। यही कारण है कि वे जहाँ दुनिया के कण-कण में माँ की उपस्थिति पाती हैं, वहीं हर वृद्धा में अपनी माँ को देखती हैं, यहाँ तक कि अपने घर के पालने में हँसते-हँसते रोती बच्ची में भी।

सच तो यह है कि इन कविताओं में माँ को, बल्कि माँ के बहाने स्त्री का, उसकी गहन पीड़ा का विस्तृत संसार समाया हुआ है। इस संसार में सब कुछ है— ममता, माया, इच्छाएँ, घर-बार, झगड़े, अपेक्षा और उपेक्षा, वर्तमान पीढ़ी की माँ के प्रति तटस्थता, माँ के पुराने संदूक और उस संदूक में 'छिपे' किसी अदृश्य 'खजाने' का लालच...। जबकि एक बेटी सिर्फ चाहती है माँ के उस संदूक को कबाड़ी के हाथों बेचे जाने से बचाना। क्योंकि यह संदूक उसके लिए न तो 'माल' है और न 'फालतू' सामान। इस संदूक के साथ उसका अपनापा है। इस संदूक से जुड़ी है माँ। उसका बचपन। 'जाने लड़की पगली' नाम से रची इस कविता में विशेष रूप से ये स्थितियाँ बिम्बायित हुई हैं। कविता के अन्त तक आते-आते यह 'संदूक' भरा पूरा प्रतीक बन जाती है।

इस संग्रह की कविताओं का एक गुण शब्दों की मितव्ययता है। अपनी सादगी में ये कविताएँ जहाँ माँ की सादगी के साथ जुड़ी हैं, वहीं अनुभव के ताप से निकले सीमित शब्द गहरे और व्यापक अर्थ लिए हुए हैं। एक-एक शब्द भाव से भीगा, विचार से लैस, अपने आप में गहरा और पूरा अर्थ समेटे है। इसलिए ये कविताएँ ध्यान से और रुक कर पढ़ने की हैं। सीधी और सपाट नहीं हैं। इनमें सूक्ष्मता है, सांकेतिकता है और व्यापक सामाजिक सरोकार इंगित है। ये कविताएँ अपने मूल में वर्तमान जीवन की उस त्रासदी को रेखांकित करती हैं, जिसमें हमारे मानवीय रिश्ते लहूलुहान हो गए हैं। भला माँ से गहरा रिश्ता और क्या होगा, जो माँ हमें इस संसार में लाती है। जिससे हमारा अस्तित्व है, वही हमारे जीवन से दूर चला

जाए, तो क्या बचेगा? इस ओर हमारा ध्यान शायद ही कभी जाता हो। संभवत: इस ओर ध्यान दिलाने के लिए इस संग्रह का सन्देश इन शब्दों में निहित है माँओं को/ मखमल पे रखो/ झूला दो/ फूलों पे वे हैं आज/ मगर कल होंगी न/ सोचो तब / क्या-क्या खो जाएगा/ जीवन से? सोचो न! फिर / सोचो।

समग्रत: इस संग्रह की सभी कविताएँ मानवीय नियति से हमारा साक्षात्कार कराती हैं। इनमें जीवन के ऐसे पक्षों को देखने का आग्रह है, जिनकी ओर हमारी पीढ़ी ध्यान नहीं दे रही। बेटों और बहुओं के वर्तमान अमानवीय, भौतिक और व्यस्त संसार में 'माँ' कहाँ है? इसी कठिन पीड़ा का अनुवाद हैं ये कविताएँ, जिनको स्मृतियों के दरवाजे से लड़की का माँ की आत्मा में प्रवेश कहा जा सकता है। ❑

समानान्तर प्रकाशन, 7/7, दरियागंज, नई दिल्ली- 110002

परिधि पर स्त्री/ मृणाल पाण्डे

कुसुम जैन

हज़ार बरस की असमानता

शरत्चन्द्र ने 1930 में लिखे अपने 'नारी का मूल्य' लेख में एक स्थान पर लिखा है— 'समाज का अर्थ है पुरुष, उसका अर्थ नारी नहीं है।' स्त्री की निष्कासित अस्मिता का यह कटु सच उस समय का ही नहीं, हमारे अपने समय का और हमारे इतिहास का भी सच है। मनुष्य की परंपरा को सुरक्षित रखने में स्त्री की केन्द्रीय भूमिका होने के बावजूद पुरुष आज भी समाज़ के केन्द्र में है और स्त्री समाज की परिधि पर। इसी सामाजिक विसंगति के यथार्थ को हाल ही में प्रकाशित मृणाल पाण्डे की पुस्तक 'परिधि पर स्त्री' ने उजागर किया है। इसमें एक लेख है 'हजार बरस की असमानता', जिसके आरंभ में ही लेखिका ने अन्तरराष्ट्रीय श्रम संगठन की एक ताज़ा रिपोर्ट का जिक्र किया है। इस रिपोर्ट के अनुसार हजारों वर्षों से समाज की केन्द्रीय स्थिति पर काबिज 'पुरुषों के बराबर आर्थिक और राजनीतिक सत्ता पाने में स्त्रियों को अभी हज़ार वर्ष और लगेंगे।' यानि असमानता का फासला तय करने में स्त्रियों की दसियों पीढ़ियाँ खप जाएंगी। यह स्थिति तब है जब दुनिया के विकसित और विकासशील देशों के लोकतांत्रिक संविधान इस दूरी को पाटने के लिए प्रयत्न कर रहे हैं। और कुछ हद तक स्त्रियों में भी राजनीतिक समझ बढ़ी है।

यह संकलन अपने समय की बहस में पूरी तरह शामिल है। यह बहस उन मसलों पर है, जो नारी-जीवन से सीधे जुड़े हुए हैं। असमानता, अन्याय, हिंसा, बढ़ती हुई जनसंख्या, प्रतिगामी कठमुल्लापन, उपभोक्तावाद, मुक्त बाजार व्यवस्था, नारीवाद आदि। हालांकि हम इन सबको उससे जुड़ा हुआ नहीं मानते। जीने की इस स्वकेन्द्रित व्यक्तिवादी दृष्टि के चलते जो सही और न्यायपूर्ण है उसका समर्थन और जो गलत और अन्यायपूर्ण है उसका प्रतिरोध करने का साहस हम खो बैठे हैं। यही वजह है कि उदासीनता कायरता और कायरता कातरता का पर्याय बन गई है।

उदासीनता के इस दौर में जब कोई समय की आँखों में आँखें डालकर घटनाओं को चुपचाप घट जाने की छूट नहीं देता, वरन् उन घटनाओं को मुद्दा बना कर हमारी संवेदना को कुरेदता है, हमारी चेतना को झकझोरता है, उदासीनता तोड़ता है तो निश्चय ही यह समझदारी से भरा एक साहसिक प्रयास है। लेखिका अपने वृहत्तर फलक पर नारीवाद की व्यापक अवधारणा स्थापित करती है। पुस्तक के अधिकांश लेखों की मुख्य चिंता जहाँ 'स्त्री-उत्थान के जगन्नाथ-रथ' के मार्ग को प्रशस्त करने की है, वहीं गरीबी से ग्रस्त आबादी के एक बड़े हिस्से की समस्याओं की चिंता भी उनमें है। 'गरीबी का महिलाकरण' में लेखिका कहती है— 'उदारीकरण से पहले हमारे कामगारों की कुल फौज का लगभग

89 प्रतिशत हिस्सा असंगठित क्षेत्र में था, आज 93 फीसदी है। यह खासी चिंताजनक और विस्फोटक स्थिति है क्योंकि इसका सीधा मतलब यह बनता है कि देश के कुल कामगारों में से मात्र सात प्रतिशत ही उदारीकरण या निजीकरण से लाभान्वित होंगे। शेष तक न तो कोई लाभ पहुँचेगा और न ही श्रमकानूनों की छतरी की छांह।' वस्तुतः 'नारीवाद अपनी समग्रता में पूरे समाज के शोषितों और प्रवंचितों के प्रति मानवीय दृष्टिकोण विकसित करने उन्हें समझाने की क्षमता देता है।'

'प्राक्कथन उर्फ हाशिये पर मित्र-संलाप' और 'यह तो नारीवाद नहीं है' — इन दो लेखों में, पहले वाले में तर्क-वितर्क के जरिए तो दूसरे में सार्वजनिक प्रतिष्ठानों में उच्च पदस्थ महिला अफसरों की मानसिकता के विश्लेषण द्वारा नारीवाद पर लगाए गए अभियोगों और उसके प्रति प्रचलित गलतफहमियों का खुलासा करते हुए उनको भी आड़े हाथों लिया गया है जो नारीवाद का निजी-स्वार्थ एवं अहं को पोसने के लिए गलत ढंग से इस्तेमाल कर रहे हैं। नारीवाद पर दो अभियोग सबसे ज्यादा लगाए जाते हैं। पहला, यह पुरुष-द्रोही है और दूसरा, यह पश्चिम का उधार लिया गया दर्शन है। लेखिका इनका जवाब देते हुए कहती है— 'नारीवाद पुरुषों का नहीं, उनकी मानवीयता घटाने' वाले उस छद्म मुखौटे का प्रतिकार करता रहा है, जो मर्दानगी के नाम पर गढ़ा गया है और जिसके पीछे झूठी अहम्मन्यता और उत्पीड़क प्रवृति के अलावा और कुछ नहीं है।' जहाँ तक पश्चिम से उधार लिए गए दर्शन का सवाल है, उसकी बावत लेखिका का मानना है कि सामाजिक भेदभाव, विषमता, कुरीतियों, प्रतिगामी कठमुल्लेपन और भ्रष्टाचार का लगातार मुखर विरोध करने की विवेकशील दृष्टि विकसित करने की सामर्थ्य जिस दर्शन में है, उसे अंगीकार न करना, नए की अनिवार्यता को स्वदेशी के नाम पर टालना, दुरदुराना उचित नहीं है। दूसरी ओर वे यह भी कहती हैं— 'नारीवाद शब्दावली की ओट में छोटे से सम्पन्न वर्ग की स्त्रियों की स्वतंत्रता और उपभोगवृत्ति को पूरे देश की स्त्रियों के लिए एक बेहतर विकल्प बताना एक दारूण झूठ के अलावा कुछ नहीं। यदि सच्चे नारीवाद को बचाए रखना है, तो हमें हर क्षेत्र में निर्ममता से इस झूठ का पर्दाफाश करना होगा '

'छोटे पर्दे पर स्त्री' में दूरदर्शन द्वारा प्रायः स्त्री की घरेलू जीव की पारंपरिक छवि को आदर्श रूप में तथा आधुनिक कामकाजी स्त्रियों की छवि को सुख-शांति का शत्रु के रूप में उपहासास्पद ढंग से पेश किए जाने पर लेखिका का सख्त एतराज कई सवालों को उठाता है। इसी तरह दूरदर्शन में घरेलू कामों को वास्तविकता के विपरीत पूर्णतः खुशनुमा, मेहनतरहित और प्रसन्नतादायक बनाकर उनका विलासमय चित्रण करना उन अधिकांश स्त्रियों के प्रति एक क्रूर मजाक है जो अपने वास्तविक जीवन में दिन रात गृहस्थी के बैल में जुती हुई हैं, घर और बाहर के बीच दोहरे कामों से लदी हुई हैं, पहाड़ों पर ईंधन, पानी, चारे की विकट कमी से जूझ रही हैं।

संकलन के अन्य लेखों में भी नारीवाद सोच अपने आक्रामक तेवर के साथ पूरी तरह मौजूद है। दलित **भंवरी** के संघर्ष की चेतना, आंध्र प्रदेश के नैल्लोर जिले की **लक्षम्मा** और उस जैसी औरतों में अरक-बंदी के विरुद्ध मोर्चा लेने की जागरूकता, **साथिन, सेवा** जैसे समर्पित महिला संगठनों की प्रतिबद्धता, त्रिभुज के बारे में सोचते हुए— इन सबके बीच नारीवाद एक आंदोलन की शक्ल ले रहा है। आंदोलन की इस प्रक्रिया के बीच से ही आत्मविश्वासी, आत्मसजग, आत्मनिर्भर औरत की तस्वीर उभरेगी जो पितृ-सत्तात्मक व्यवस्था के शोषणतंत्र से अपने आपको मुक्त कर अपनी नियति का फैसला स्वयं करेगी।

तर्कों, आंकड़ों, शोध प्रपत्रों की रपट का हवाला देते हुए लिखे गए ये लेख अपनी परिपक्व व प्रतिबद्ध चेतना के कारण पाठक से भी निर्णायक

प्रतिक्रिया की मांग करते हैं। 'अब हाशिये पर बैठ कर लहरें गिनने का सुहाना समय जा चुका है। जो लड़ेगा नहीं वह भी मरेगा।'

❑

राधाकृष्ण प्रकाशन प्रा.लि.

प्र. संस्करण : 1995, मूल्य - 95 रु.

पीड़ित चेहरों का मर्म/काव्य संग्रह/मानिक बच्छावत

नगेन्द्र चौरसिया

पीड़ितों के दर्द की सार्थक अभिव्यक्ति

'पीड़ित चेहरों का मर्म' मानिक बच्छावत का यह पाँचवा काव्य संग्रह है। काव्य-कर्म से लम्बे समय से जुड़े रहने के कारण इनके अनुभव में विविधता है। देश-विदेश की वर्षों यात्रा, जीविका के लिए कई तरह के व्यवसायों से जुड़े रहने के कारण कई तरह के तीखे-मीठे अनुभव भी हैं। यह बात साबित हो चुकी है कि कविता आज जन-सामान्य की समस्याओं की एक मात्र असरदार संवाहक साहित्यिक विधा है। यह भी सच है कि कविता की जो सीमा है उसमें एक बिन्दु मनुष्य के प्रति इमानदार बने रहने की प्रतिबद्धता भी है तो दूसरी सीमा की अंतिम बिन्दु समाज के साथ जुड़कर समाज के लोगों की इच्छाओं को व्यक्त करने की कामना भी है।

संवेदनशील कवि मानिक बच्छावत के कविता-संग्रह 'पीड़ित चेहरों का मर्म' की अनेक कविताएँ विभिन्न दबावों से होकर गुजरने के बाद ही लिखी गई लगती हैं। यही कारण है इनमें भाषा, शिल्प और संवेदनात्मक स्तर पर एक लम्बा अंतराल दिखाई पड़ता है। हो सकता है कि कवि के रचना कर्म में अंतराल न हो, संग्रह के आने में अंतराल हो। मानिक किसी खास तरह के वाद, मत, आन्दोलन या दृष्टिकोण में आबद्ध न होकर जब-जब जो सोचा है, देखा है और जिस सहज और सरल ढंग से अनुभव किया है उसी सहजता से व्यक्त भी किया है, किसी आग्रह या मुद्रा से बचते हुए संवेदनात्मक ढंग से अपनी उन स्थितियों को कविता का संस्कार दिया है जिनमें वह रहता आया है।

पहले संग्रहों की कविताओं में जहाँ सामान्य भावुकता थी उसकी जगह इस संग्रह की कविताओं में अनुभव की लम्बी दृढ़ता (कंसिस्टेंसी) दिखाई देती है। इसमें दर्द की ठहरी हुई रोमानी अवधारणा नहीं, बल्कि अनुभवों की गतिशीलता है जो इनकी कविता की भाषा को इकहरा होने से बचाती है। बोझ, कुत्ता-टहल, शुरूआत, बुरा-समय, ठण्डी आलमारी, पैदाइश, जीत तथा मौत जैसी छोटी कविताओं से यह स्पष्ट है। मानिक की कविताएँ भी अन्य समकालीन कवियों की तरह आम आदमी की सभी प्रकार की पीड़ाओं से सरोकार रखती हैं यानी बड़े सामाजिक स्थितियों की तमाम विसंगतियों को उभारने की कोशिश करती हैं। समसामयिक समाज-विरोधी घटनाएँ, धार्मिक उन्माद, विश्व-स्तर पर व्याप्त आतंक तथा अन्य समस्याओं पर कवि की पैनी निगाहें हैं :

इतिहासकारों/ इस शताब्दी का/ सिर्फ मुर्दा वृत्तान्त लिखने के लिए अभिशप्त हो तुम/ सिर्फ सिद्ध करने में लगे रहो कि यहाँ रामजन्मभूमि थी/ या बावरी मस्जिद/ और तुम्हें/ बहस में छोड़कर/ हादसा/ सब कुछ निश्चिन्ह कर देगा। ××× ××× .... मेरे कवि बंधुओं!/ क्षमा करना/ कविता खबर की खबर है/ जहाँ हर चिह्न मिटा दिया जाता है वहाँ भी कविता/ एक नया इतिहास रच देती है। (खबर, पृ. 11-12)

जाहिर है कि मानिक चौंकाने वाला मुहावरा नहीं देते बल्कि सीधी सहज-भाषा में जरूरी समस्याओं को ही व्यक्त करते हैं। वे चारों ओर फैले प्रदूषण, विषमता, पीड़ा किसी को नजरअंदाज नहीं करते :

अब भी/ नहाती है/ नदी, कुओं, तालाबों पर/ नंगी माँ/ दरिद्रता से/ लाज का केंचुल हटाकर/ अपने

जरा सा कपड़े फेंक/ एकान्त में/ अपनी मैल धोने लगी माँ/ अपने पुत्रों से/ आँख बचाकर/ नंगी माँ। (नंगी माँ, पृ. 54)

मानिक बच्छावत की कविताओं में अटूट संघर्ष की जिजीविषा है :

मरूँगा नहीं अभी/ कभी/ आएगी मौत तो लडूँगा/ उसके सीने पर चढ़ूँगा/ उसे धर दबोचूँगा/ तब वही छटपटाएगी/ मुझे मारने के पहले/ स्वयं ही मर जाएगी। (मौत, पृ. 41)

सब जगह टकराता क्यों है? इसलिए कि उसके भीतर बेहतर दुनिया का एक सपना है :

मैं सपना देखने लगा हूँ/ देखता हूँ/ पूरे देश में अमन है/ कहीं कोई झगड़ा नहीं/ झंझट नहीं, रगड़ नहीं/ छात्र मेहनत से पढ़ रहे हैं/ परीक्षा में नकल नहीं होती/ न्यायालय में न्याय मिल रहा है/ विद्यालय में बच्चों का आसानी से प्रवेश हो जाता है/ शिक्षक मेहनत से पढ़ा रहे हैं/ अस्पताल में डॉक्टर/ हर मरीज की देख-भाल में लगे हैं/ नकली दवाएं दूकानों से हट गई हैं/ नगरपालिका ने/ शहर को स्वर्ग बना दिया है। (सपने देखने का जुर्म, पृ. 69)

इस तरह मालिक बच्छावत अपने चालीस वर्षों की हर तरह की व्यथाओं, संत्रासों तथा अन्य कई तरह की आन्तरिक तथा आस-पास की परेशानियों का भार वहन करते हुए अपनी क्षमता तथा आत्मविश्वास और मानवीय आस्थाओं को असरदार भाषा में व्यक्त करते आ रहे हैं। 'निज' और 'पर' के अहसासों को संजीदगी के साथ सामूहिक बनाने की भी इनमें विलक्षण क्षमता है। यही कारण है कि अपनी सारी द्विधाओं से मुक्त होकर मानिक एक विशाल युग-बोध के प्रति समर्पित कवि हैं। ये मानवतावादी दृष्टि, जनतंत्र संस्कृति के प्रति आस्थावन, विश्व-बंधुत्व के पक्षधर उदार मत मूल्यों के मानने वाले हैं तो विध्वंशक तत्वों के विरोधी हैं। ❑

समकालीन सृजन, 20 बाल मुकुन्द नस्कर रोड, कलकत्ता 700007
प्र. संस्करण : 1994, मूल्य - 50 रु.

बिना पहिए का रथ/ कहानी संग्रह/ विलास गुप्ते

मनीषा झा

बिना पहिए का रथ

विलास गुप्ते की 'बिना पहिए का रथ' की कहानियों का विषय विविध है और रोजमर्रा की जिन्दगी के हिस्से हैं। प्रस्तुत संग्रह की सभी कहानियाँ विचार और संवेदना परिपूर्ण होने के बावजूद उनमें दोहराव नहीं है।

'बिना पहिए का रथ' कहानी-संकलन की पहली कहानी है, ऐसे व्यक्तियों की जिनमें एक यात्रा के दौरान परिचय बढ़ता है। एक के पास वेटिंग रूम में जाड़े की रात काटने के लिए पर्याप्त कपड़े हैं तो दूसरा पर्याप्त खाली। पहले व्यक्ति के मन में दूसरे के लिए सहानुभूति उमड़ती है फिर अपनी जगह लौट जाती है— पानी अपने उफान पर आकर फिर लौट जाती है— बिना किसी को छुए।

'औरतें' तथा 'परीक्षक' कहानियों में स्थिति साम्प्रदायिक दंगे की है। साम्प्रदायिकता के भड़के माहौल में औरतों के प्रति सोच तथा मानसिकता को 'औरतें' कहानी बखूबी उभारती हैं।

'इज्जतदार लोग' कहानी के केन्द्र में वे अधेड़ हैं जो अपने सेक्स की परितृप्ति के लिए दूसरों से छुप-छुपकर 'स्त्री-पुरुष के गोपनीय व्यवहार' को दिखानेवाले चित्र देखते हैं। यह कहानी अधेड़ों की मानसिक अतृप्ति को उजागर करती है तो 'पुरुष अवतार' कहानी किशोरों में उभरते पुरुष-भाव को।

बच्चों की महत्त्वाकांक्षा को अनदेखी करके माता-पिता का उस पर अपनी महत्त्वाकांक्षाओं को लादना आज सामान्य हो गया है। 'दस्तक' कहानी में लेखक कहता है— 'उसे भीड़ में मत धकेलो। आपकी दस्तक अनसुनी रह गई थी और आप अपने घेरे में बंध गए थे, उसे तो वह हश्र मत दो।' (पृ. 115)

'औकात' कहानी दो सतहों पर चलती है। एक मित्र दूसरे मित्र के आर्थिक एहसानों के तले दबा होने की वजह से उसके खुले फिकरों को सहता है। किशोरावस्था में यह उसकी मजबूरी होती है किन्तु बाद में आदत बन जाती है। दूसरी सतह पर यह कहानी रिश्वतखोरी जैसे सामाजिक भ्रष्टाचार की ओर भी संकेत करती है।

'अपने-अपने पिरामिड' में बूढ़े पति-पत्नी के दो बेटे माँ-बाप से दूर अलग-अलग शहर में रहते हैं। लेखक यह वाक्य जड़ता है— 'भांय-भांय करते अपने उस खुद से अधिक प्रिय मकान में एक दूसरे के पास लौटे हुए मुकुंद भाई और मंजुला बेन ऐसे प्रतीत होते हैं, जैसे पिरामिड में दो ममियाँ लेटी हों।' (पृ. 102)

पद और सम्मान मनुष्य को ऊँचा उठाते-उठाते कभी कभी इतना ऊँचा उठा देते हैं कि आत्मीयता के सारे संबंध निहायत छोटे और बेकार लगने लगते हैं। 'बड़ी दीदी' कहानी में इसी ओर संकेत है।

'माया लोक' कहानी शैली की दृष्टि से पुस्तक की अकेली कहानी है।

पुस्तक की अधिकांश कहानियाँ मानव-चरित्र के विभिन्न पहलुओं को उजागर करती हैं। कुछ कहानियों में वर्तमान परिस्थितियों का जायजा तथा सामयिक समस्याओं से टकराहट भी है। ये कहानियाँ आकार की दृष्टि से संक्षिप्त हैं और शैली की दृष्टि से सिमटी हुई किन्तु विषयगत विविधता से खाली नहीं। सामान्य शैली में लेखक ने अपनी संवेदना का खाका खींचा है। अपनी विशेषताओं के कारण ये कहानियाँ व्यापक पाठक वर्ग द्वारा पढ़ी जाएँगी।

❑

सन्मार्ग प्रकाशन, जवाहर नगर
प्र.संस्करण : 1997, मूल्य - 80 रु.

भारतीय ग्राम/ श्यामाचरण दुबे

संजय भारती

एक गाँव के बहाने

'भारतीय ग्राम' श्यामाचरण दुबे की अंग्रेजी पुस्तक 'इंडियन विलेज' का हिन्दी अनुवाद है। इस पुस्तक में हैदराबाद राज्य के तैलंगाना क्षेत्र के शामीरपेट नामक गाँव का वर्णनात्मक अध्ययन है। उस्मानिया विश्वविद्यालय की ओर से आयोजित समाज सेवा बिस्तार योजना तथा समाजशास्त्र एवं मानवशास्त्र विभाग के समुदाय अध्यक्ष की योजना के अंतर्गत लेखक ने शामीरपेट गाँव का सामाजिक गठन, उसकी अर्थ-व्यवस्था, जीवन-स्तर, पारिवारिक संबंध सूत्र इत्यादि विषयों का सूक्ष्म और गहन अध्ययन किया है। इस पुस्तक में इसी अध्ययन को समाहित किया गया है। लेकिन सवाल यह है कि भारत के किसी एक गांव के समाजशास्त्रीय अध्ययन को 'भारतीय ग्राम' शीर्षक से प्रस्तुत करने का क्या औचित्य?।

वैसे हिन्दी में यह अपनी तरह की अलग पुस्तक मानी जाएगी क्योंकि किसी समुदाय, समाज इत्यादि के गहन समाजशास्त्रीय अध्ययन हिन्दी में प्रकाशित नहीं होते। सूक्ष्म समाजशास्त्रीय अध्ययन के लिए जरूरी विधि या पद्धति को जानने के हिसाब से यह पुस्तक हिन्दी में एक मॉडल हो सकती है। अलबत्ता अनुवाद कहीं-कहीं खटकता है।

❑

वाणी प्रकाशन, 21-ए, दरियागंज, नई दिल्ली
द्वितीय संस्करण : 1996, मूल्य -

अंक 29 : अगस्त 1997

कमलेश्वर की ताजा कहानी पढ़कर लगा कि आजादी और विभाजन की घटनाओं को हम अपनी आँखों के सामने देख रहे हैं। 'आजादी मुबारक' निश्चित ही इस अंक की उपलब्धि है। कमलेश्वर ने फिर एक बार सिद्ध कर दिया है कि अपने लेखन के क्षेत्र में अपनी पहचान बनाए हुए हैं। श्री नरेन्द्र मोहन का आलेख, हरिनारायण व्यास, सरोज कुमार वर्मा, अमिता शर्मा, अरुणदेव की कविताएं, प्रेमदुबे, प्रेम प्रकाश की कहानियाँ इस अंक का महत्वपूर्ण और पठनीय पक्ष है- **पुरुषोत्तम 'प्रशांन्त', हैदराबाद**। कहानी 'आजादी मुबारक' बांग्ला साहित्यकार बोधिसत्व मैत्रेय से मुनमुन सरकार की बेलाग बातचीत तथा हरिनारायण व्यास का छल छद्मविहीन कविताओं ने मुझे विशेष रूप से प्रभावित किया। आपका गहन चिन्तनपरक प्रखर सम्पादकीय वास्तव में 'वागर्थ' का प्राण होता है। आपने 'जय हे जन' शीर्षक सम्पादकीय में जिस प्रकार से ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में राष्ट्र की लोकतांत्रिक व्यवस्था के अंतर्गत जन की सशक्त भूमिका को रेखांकित किया है, वह युक्ति युक्त है- **श्याम विद्यार्थी, अहमदाबाद**। कमलेश्वर की कहानी 'आजादी मुबारक' ने समय के उस छूटते सच को पकड़ा है, जहाँ हमारा विकृत संस्कार विकसित होकर चरित्र में ढल गया है- **उत्तिमा केशरी, पूर्णियाँ**। 'आजादी मुबाकर' कहानी में आजादी के जश्न की कथा-व्यथा पढ़ी। 'जन-गण-मन' गानेवाले हर शख्स को कमलेश्वरजी ने जन-जन के मन के दर्द से रूबरू कराया है। अपने तेवर, अपनी शैली, अपना अंदाज़बयां लेकर। पढ़कर कई बार लगा वाह, मंटो फिर से जी उठा और कई बार लगा उफ् मंटो दुबारा मर गया- **घनश्याम अग्रवाल, अकोला**। नामवर सिंह पर डॉ. शिवमंगलसिंह सुमन का लिखा गया संस्मरण इस अंक की एक महत्वपूर्ण रचना है। संतोष दीक्षित की कहानी शहर में लक्ष्मिनिया अपनी एक अलग पहचान बनाने में समर्थ है- **वासुदेव, राँची**। कमलेश्वर जी की कहानी आजादी मुबारक राष्ट्र विभाजन की मानसिक त्रासदी के तथ्य प्रस्तुत करती है। यह कहानी पाठकों में मानवीय संवेदना पैदा करती है। बोधिसत्व मैत्रेय जी का वार्तालाप पाठकों में राष्ट्रवाद की चमक पैदा करता है। हरिनाराण जी की सभी कविताएँ आकर्षक एवं तात्विक हैं- **प्रहलाद प्रसाद शर्मा, शहडोल**। स्वाधीनता की स्वर्ण जयंती पर विशेष रूप से निकाला गया यह अंक महत्वपूर्ण बन पड़ा है, इसमें कोई संदेह नहीं है। खासतौर पर कमलेश्वर की कहानी। कमलेश्वर के लिए तो यही कहना होगा कि अद्‌भुत क्षमता है इस आदमी में। कमलेश्वर कल्पना की जितनी ऊँची उड़ान भर सकते हैं, आज दूसरा कोई वैसा उदाहरण नजर नहीं आता। प्रेम दुबे की कहानी 'अगली सदी का पहला वर्ष' भी पठनीय है। बोधिसत्व मैत्रेय की बातचीत काफी विचारोत्तेजक है- **सुरेन्द्र तिवारी, दिल्ली**। वागर्थ ने अपनी अनिवार्यता सिद्ध कर दी है। वह हमारे मूल्यों के विशिष्टतम के निमित्त निरन्तर संघर्षशील है। 'आजादी मुबारक' इतिहास और वर्तमान की संवेदना और यथार्थ को एकदम से चित्र बनाकर हमारे आगे परोसने में सक्षम है। हरिनारायण व्यास की कविताएँ शिल्प और संवेदना दोनों ही दृष्टियों से विचारणीय हैं- **जगदीश विकल, मोतिहारी**। अगस्त अंक मिला। सबसे पहले सामग्री और साज-सज्जा देखकर संपादकीय पढ़ने बैठा तो एक सांस में पढ़ गया। भारतीय जनता की जैसी गहरी समझ आप में है, वैसी पढ़े-लिखों में बहुत कम है। तथाकथित बुद्धिजीवी अपने को ज्ञान का अवतार मानते हैं और परम्परा प्रसूत विवेक को जीने वाली निरक्षर किन्तु सुशिक्षित जनता को अशिक्षित मानकर जो अक्षम्य अपराध करते हैं, उसका बहुत ही मार्जन आपने वागर्थ के इस सम्पादकीय से कर लिया है। 'सत्ता पर आदमी नहीं बैठता, सत्ता ही उस

पर बैठती है', 'भूचाल का केन्द्र सत्ता में है, और भूचाल की तबाही जनता में, होना यह चाहिए कि यह केन्द्र जनता में हो और इसका प्रभाव क्षेत्र सत्ता हो' 'सत्ता संघर्ष ने सत्ता-षड्यंत्र का रूप ले लिया' जैसे वाक्य अत्यंत सार्थक और स्मरणीय हैं: **रामदेव शुक्ल, गोरखपुर**। वागर्थ के अगस्त अंक में प्रेम प्रकाश व्यास की कहानी 'ककून' पूर्व प्रकाशित है।... उसी तरह मंटो पर प्रकाशित रचना भी कहीं पढ़ी हुई लगी- **सिद्धेश, कलकत्ता**। (लेखक कृपया सोचें के... सं.)। सम्पादकीय ने सदा की ही तरह प्रभावित और मंत्रमुग्ध किया, क्योंकि इसमें उस गणतंत्र/जनतंत्र को चाबुक, लगाम, भूचाल, छठी इन्द्रिय, त्रिशंकु, बाढ़, शतरंज, रस्साकशी, मुर्गाबाड़ी, नदी, पुल जैसे तीखे-पैने, सटीक और पारदर्शी प्रतीकों के माध्यम से 'वनतंत्र' में बदलते दिखा कर बखूबी बखिया उघेड़ी गई है। भारत-पाक विभाजन की जनवादी पीड़ा को फंतासी कथाशिल्प में गहराई से उकेरनेवाली कहानी है 'आज़ादी मुबारक'। कहानी की जानदार और शानदार बुनावट से एक बार फिर कमलेश्वर अपने कलाकार-कहानीकार का लोहा मनवा ले गए हैं। डा. शिवमंगल सिंह 'सुमन' का डॉ. नामवर सिंह से संबंधित आख्यानपरक संस्मरण इस अंक की दूसरी बड़ी उपलब्धि है। विश्वविद्यालयों में प्रोफेसर जैसे उच्च पदों की नियुक्तियों का एक अत्यंत अकाट्य और तर्कपूर्ण निकर्ष स्थापित करने का बेहद ईमानदार प्रयास करते हुए डॉ. सुमन जी ने चलते-चलते आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के प्रति भी एक भावभीनी 'सुमनांजलि' अर्पित कर दी है- **कृष्ण भावुक, पटियाला**। सरोज कुमार वर्मा की कविता जिसे आपने अगस्त 97 अंक में प्रकाशित किया है ये कविताएँ 'हिन्दुस्तान' (पटना) की कविता प्रतियोगिता में पुरस्कृत हुई थीं, छपी भी थीं। एक कविता के शीर्षक में सिर्फ 'बाबुल' और 'हास्टल' बदला गया है- शेष शीर्षक वेही है- **पंकज कुमार झा, सहरसा**(लेखक कृपया उत्तर दें- सं.)। 'आजादी मुबारक' कमलेश्वर की अच्छी कहानी है। संतोष दीक्षित की कहानी भी अच्छी लगी। खासकर कथा की भाषा एवं संवाद शैली ने मन मोह लिया। कविताओं में सरोज कुमार वर्मा एवं अरविन्द श्रीवास्तव ने काफी छुआ है- **रमणकुमार सिंह, सुपौल**। भारतीय आजादी की स्वर्णजयन्ती के संदर्भ में जन गण मन विषय पर संसद के विशेष सत्र में पाँच सौ से अधिक सांसदों द्वारा पैंसठ घंटे (जिनमें बाईस घंटे लगातार शामिल हैं) की बहस से उभरे निष्कर्ष की अपेक्षा, वागर्थ में आपका संपादकीय कहीं अधिक वजनदार है। वागर्थ साहित्य प्रेमियों तथा बुद्धिजीवियों की पत्रिका बन पाई है। इसे जन सामान्य की पत्रिका बनाने के लिए शायद बहुत परिवर्तन करना पड़ेगा। सबसे जरूरी है भाषा का सरलीकरण- **महेश अनघ, ग्वालियर**। आपके संपादकीय में ऐसी चुम्बकीय शक्ति होती है कि पाठक अपने हाथ में अंक आते ही सबसे पहले संपादकीय पढ़ता है।...कमलेश्वर, ना.डिसोजा, संतोष दीक्षित, प्रेम दुबे की कहानियाँ एवं हरिनारायण व्यास, इवा लिप्स्का इबेमहल देवी, सरोज कुमार वर्मा की कविताएँ बेहद पसंद आई। 'नई कलम' की कविताएँ नई स्फूर्ति, नई चेतना और नई ऊर्जा प्रदान करती दिल तक समा गई- **विनय कुमार तिवारी, कतरासगढ़**। 'जय हे जन' पढ़ा, अच्छा लगा किन्तु भारतीय जन जागरूक है ऐसा मैं नहीं मानता। यदि ऐसा होता तो फूलन जैसे लोग कभी विजय न प्राप्त कर पाते। आज का भारतीय जन इतना सिकुड़ गया है कि संकीर्णता की तमाम हदें पार चुका है। कहीं जाति के नाम पर, कहीं धर्म के नाम पर और कहीं वर्ग विशेष के नाम पर सिकुड़ता ही जा रहा है- **चक्रपाणि त्रिपाठी, छतरपुर**। 'आजादी मुबारक' मर्म को सटीक छूती है। साम्प्रदायिक-प्रदूषण के माहौल में यह कहानी निश्चय ही साम्प्रदायिक-विषाणु निरोधक का कार्य करेगी और साथ ही मंटो की कहानियों के साथ-साथ यह कहानी भी याद की जाती रहेगी-

प्रतीकलाल, राँची। कमलेश्वर की कहानी 'आजादी मुबारक' में एक आजादी की तकतीफ है। लोगों ने पूरी आजादी को शहद की तरह कागजों पर लिटाया एवं चीटीयों की तरह चाट गए- **शंकर जालान, राँची**। मंटों पर डॉ. नरेन्द्र मोहन का आलेख मंटो के कथा-साहित्य में प्रकट विभाजन की त्रासदी के संदर्भ में प्रभावित करता है। प्रेम दुबे की दिलचस्प कहानी शब्दों के परित्यक्त जीवन और संबंधों के यांत्रिक होते जाने की मार्मिक पड़ताल करती है- **हेमंत कुकरेती, दिल्ली**। मधु कांकरिया की कहानी 'फैसला फिर से' बहुत भाई। सरोज कुमार वर्मा की कविता साक्षी- स्कूल जा रहा है पूर्व प्रकाशित है। यह सूचना दर्ज होनी चाहिए थी- **दीपक, चण्डीस्थल, गया**। सरोज वर्मा की कविताओं ने छुआ है मन को। खास कर 'पिता से पैसे मांगते हुए'। ना. डिसोजा की कहानी 'दो भूतपूर्व' परिपक्व है- वर्तमान का बेईमान चेहरा उघाड़ता हुआ। भाई, वागर्थ में प्रूफ की दशा सुधारें। कहिए तो हाजीपुर से सहयोगी भेज दूँ ?- **प्रणय कुमार, हाजीपुर**। 'अगली सदी का पहला वर्ष' कहानी श्री प्रेम दुबे की एक सांस में पढ़ गया। हर पंक्ति के बाद यह जिज्ञासा बनी रही कि आगे क्या होने वाला है- **रामकुमार बेहार, रायपुर**। डॉ. शिवमंगल सिंह 'सुमन' द्वारा लिखित सस्मरण अत्यंत दुर्लभ सामग्री और महत्वपूर्ण दस्तावेज है। किसी विश्वविद्यालय में विधिवत् लेक्चरर न होते हुए भी, जोधपुर विश्वविद्यालय में प्रोफेसर-अध्यक्ष के रूप में डॉ. नामवरसिंह की नियुक्ति हो जाना, शिक्षा-जगत् की असाधारण घटना थी।... महादेवी जी के महान सर्जक-स्वरूप और मृदुल स्वभाव के कारण उनका विरोध कर पाना तो किसी के लिए संभव नहीं था। जानकारी यह मिलनी चाहिए कि प्रो. नामवर सिंह ने जात-पाँत और वामपंथी दायरे से बाहर निकलकर कितने लोगों की प्रगति का पथ प्रशस्त किया ?...- **रवीन्द्र भ्रमर, अलीगढ़**। 'वागर्थ' का हर अंक आकर्षक एवं पठनीय रहा है। पत्रिका रचनाकारों और पाठकों के बीच बहुत लोकप्रिय होती जा रही है। डाक से थोड़े विलंब से पत्रिका पहुँचती है। फिर भी सभी प्रतियाँ बिक जाती हैं- **कृष्ण चौधरी, आमस, गया**। कमलेश्वर जी की कहानी 'आज़ादी मुबारक' का मंटो बहुत शिथिल रहा जबकि छोटे अल्फ़ाजों में बड़ी बात कह जाने की क्षमता में मंटो का कोई मुकाबला नहीं रहा है। मंटो का अर्थ रहा है आग, तंत्र, बेकारी, चुटीलापन और मर्म को नंगाकर आघात... यथार्थ की बरछी से। जिस मुस्तैदी और धार की कमी कहानी में दृष्टिगोचर हुई वही मुस्तैदी और तंज़ कमलेश्वर जी के वक्तव्य (हिन्दी कहानी- आज) में पूरी तरह नमूदार रहे... जिसकी कच्ची कथा आज भी विचार और इतिहास से टकरा रही है। वामपंथ की वापसी को लेकर कमलेश्वर जी के शब्दों को नकारा नहीं जा सकता है, वहीं वामपंथ को पुरानी गल्तियों से पूरी तरह आगाह रहना भी ज़रूरी रहेगा। हरिनारायण व्यास की कविता बहुत मार्मिक लगी- **विजय, दिल्ली**। भारतीय प्रजातंत्र के पचास वर्ष पूरे होने पर आपको जो संतोष एवं प्रसन्नता है, वह बड़ी नकारात्मक लगती है। देश के वर्तमान नेतृत्व की आत्ममुग्धता तो समझ में आती है, कम से कम बुद्धिजीवी वर्ग को इस मीठे ज़हर से दूर रहना चाहिए। ... भारत की जनता परिपक्व नहीं है। प्रजातंत्र को बचाए रखने का अर्थ आज़ादी को बचाए रखना भी है...। श्री बोधिसत्व मैत्रेय जी की निराशा बड़ी सकारात्मक लगती है- **कुमार सुधीर, भोपाल**। स्पष्ट है कि वागर्थ दिनोंदिन एक-एक सोपान ऊपर की ओर बढ़ रही है। इस अंक में किसी का उल्लेख छोड़ देना अन्याय होगा। पचास वर्ष में वही आकाश, वही पृथ्वी, वही पानी और.... और तो वही हैं लोग, लेकिन धूमिल, धराशायी, धैर्यहीन, धोखेबाज... - **अरुण शीतांश, बक्सर**। अगस्त अंक का संपादकीय 'जय हे जन' पढ़ा। बीते हुए कल को रूमानी ढंग से याद करना हम सबका स्वभाव है... लेकिन हमारी जीवन-

शैलियों में हमने सभ्य और विवेकवान आकांक्षाओं को छोड़ दिया है और आज़ादी को प्रभु-वर्ग की अराजकता में परिवर्तित कर दिया है। ... आमजन की जो स्थिति है वह बड़ी ही शर्मनाक है। कराहती मानवता, टूटता प्रेम, गिरती भावनाएँ और त्रस्त समाज। यह सच है कि भारत की जनता इतनी भोली नहीं कि वह अपने प्रति हो रहे रवैये को न समझ सके- **अखिलेश्वर पाण्डेय, सारण**। आपका संपादकीय बेहद प्रभावशाली सारगर्भित और सामयिक है। आपने जिन प्रश्नों और मुद्दों को उठाया है उन पर चिन्तन और बहस होनी चाहिए खुलकर- **जगदीशचंद्र, नई दिल्ली**। स्वतंत्रता की पचासवीं वर्षगांठ पर पुराने चावल (कमलेश्वर) का पथ्य 'आजादी मुबारक' बेहद कड़वा सच जरूर है पर औषध तो कड़वे होते ही हैं। सम्पादकीय में जो बात स्वच्छ ताल में तैरती मछली-सी है वह बिहार की भी है। संतोष दीक्षित और मधु कांकरिया के साथ राजकुमार गौतम ने भी बाँधा है। फिर एक बार पुनर्प्रकाशन का हादसा खल गया, 'ककून' (अन्यत्र प्रकाशित है)...- **राकेश कुमार सिंह, आरा**।(लेखक ध्यान देंगे? - सं.)। यहाँ पाठकों में वागर्थ ने अपनी ज़रूरी उपस्थिति दर्ज की है। बगैर तामझाम के चुपके से इसने अपनी पैठ और पहचान बना ली है। इस अंक में कमलेश्वर की कहानी और टिप्पणी उपलब्धि है। संतोष दीक्षित की कहानी 'शहर में लक्ष्मिनिया' मार्मिक है- **अवधेश प्रीत, पटना**।

अंक 28 : जुलाई 1997

'कच्ची डाल हो तो फलों के बोझ से भी टूट जाती है, आपकी सम्पादकीय की यह पंक्ति अगर आज के अभिभावक याद रखे तो बच्चों का कुछ कल्याण जरूर होगा। फ़िराक़ गोरखपुरी पर इतना स्तरीय और सार्थक मैटर देखकर बहुत प्रसन्नता हुई। रेवतीलाल शाह ने अपने आलेख में गोरखपुरी जी की संवेदनशीलता और विवेक को गहराई और तल्ख़ी से जांचा और परखा है- **मार्कण्डेय सिंह, बक्सर**।निस्सन्देह वागर्थ एक ऐसी पत्रिका बन चुकी है जिसकी मात्र प्रशंसा ही नहीं होनी चाहिए, बल्कि इसकी सम्पूर्ण विशिष्टताओं पर एक गम्भीर विचार-विमर्श की आवश्यकता है, एक ऐसा विचार-विमर्श जो इस पत्रिका को न सिर्फ अगली सदी में ले जाए वरन आगे की बहुत:सी सदियाँ 'वागर्थ' की गोद में स्वयं आएँ। हाँ, नुक्ते और यान्त्रिक त्रुटियों पर थोड़ा और ध्यान दिया जाना चाहिए— गलतियाँ खटकती हैं। फ़िराक़ पर इतनी सारी सामग्री और करीने से सजी हुई देख कर तबीयत खुश हो गई। काफी संतोष मिला। फ़िराक़ को किसी ने याद किया तो दिल से किया। सर्वश्री रेवतीलाल शाह, शमीम हनफ़ी और भवदेव पाण्डेय जी को बहुत-बहुत धन्यवाद। परंतु एक शिकायत के साथ, वे ये कि फ़िराक़ के शेरों के लिए जगह आपने बहुत कम दी, और कुछ अति महत्वपूर्ण शेर छूट गए। जैसे- फ़िराक एसे में क्यूं आँख डबडबा आई।
हवा में नर्म लचक है फ़िजा में ठंडक है।
... अशोक अग्रवाल की 'प्रस्तुति' अच्छी लगी, सविता चिंचोलकर की कहानी, कुबेरनाथ राय का निबंध अच्छा लगा। समकालीन प्रश्न के अंतर्गत देवेन्द्र इस्सर का विवेचन बहुत कुछ कहता है, लेकिन कुछ छूट भी गया है। 'यदि जीवन दुबारा जीने को मिले' जारी रखें।- **अन्शुमान त्रिपाठी, गोरखपुर**। बालकथा- 'काली और कलंदर' नए तेवर के साथ सहज भाषा में लिखी अनूठी कथा है- **कमलेश बख्शी, मुंबई**। फ़िराक़ गोरखपुरी के संबंध में इतनी अच्छी और विस्तृत जानकारी मिलेगी, आशा नहीं थी। मृदुला गर्ग और निरंजन श्रोत्रिय दोनों ने क्रमश: कविता और कहानी के प्रति आम पाठकों में बढ़ रही उदासीनता को ललकारा है- प्रूफगत त्रुटियों पर ध्यान क्यों नहीं देते- **पंकज कुमार झा, सहरसा**। आपने उस बच्चे को संपादकीय का सामान बनाया जिसके लिए सब चिंतित तो हैं, पर चिंतन नहीं है उनके मन में। हम बच्चों

से बचपना छीन रहे हैं। कविताओं में निरंजन श्रोत्रिय की 'पक्षी' 'अब समय आ गया है', 'ब्रेक के बाद' व 'महासमर' अच्छी लगी। निर्मला गर्ग की 'नीम का पेड़', 'अबि और किताबें', कुमार रवीन्द्र के 'नेहवन के गीत', रामनिवास झा की 'शहर की ओर' भी मन को अच्छी लगी। गुरदीप खुराना की कहानी 'बहाव के साथ' एक बहुत अच्छी रचना है- **कृष्ण जोशी, भोपाल**। कुबेरनाथ राय प्रणीत निबंध 'आषाढ़स्य प्रथम दिवसे' ज्ञानवर्द्धक है- **चित्य देव तिवारी, धनबाद**। फ़िराक़ गोरखपुरी से बातचीत (शमीम हनफी) तथा रेवतीलाल शाह का आलेख 'ध्यान से सुनना यह सदी बोल रही है' काफी पसंद आए। देवेन्द्र इस्सर का लेख 'उत्तर आधुनिकता : सांस्कृतिक संवाद या सांस्कृतिक शून्यवाद' संस्कृतियों की त्रासदी पर एक उत्तम समीक्षा है। मृदुला गर्ग का वक्तव्य 'हिन्दी कहानी : अगज' आज की हिन्दी कहानी की सीमाओं पर एक सार्थक अभिमत है। निरंजन श्रोत्रिय की कविता 'पक्षी' निर्मला गर्ग की कविता 'धन्यवाद से कुछ आगे' तथा कुमार रवीन्द्र की कविता 'नेह-वन के गीत मीठे' अच्छी लगी- **मणिशंकर प्रसाद- बिहार शरीफ** । संपादकीय 'सदी के अन्त में बच्चा'... निदा फाज़ली का शेर इसी संदर्भ में याद आ रहा है— 'ऐ शाम के फ़रिश्तो जरा देख के चलो।
बच्चों ने साहिलों पे घरौंदे बनाए हैं॥'
शताब्दी पुरुष फ़िराक़ को याद करना एक सुखद अनुभूति से भर गया। फ़िराक़ को जानने-समझने का जो प्रयास किया गया है वह प्रशंसनीय है। मृदुला गर्ग की कहानी 'बजर' की शैली प्रभावित करती है। लेखिका द्वारा कहानी में उठाए गए प्रश्न सोचने पर विवश करते हैं। अनामिका जी ने उन पर ठीक लिखा है- **चक्रपाणि त्रिपाठी, छतरपुर**। 'वागर्थ' के चाहनेवालों की संख्या निरंतर बढ़ रही है। मेरी प्रति पर जितना दबाव रहता है— उसी से यह सिद्ध हो जाता है। और यों, इसमें आश्चर्य क्यों हो- **इन्दु जैन, दिल्ली**।

अंक 27 : जून 1997 तथा अन्य

वागर्थ की सामग्री उच्च स्तर की और ज्ञानवर्द्धक है। सबसे बड़ी बात यह है कि यह पत्रिका साहित्यिक राजनीति से दूर है। इसका यही स्वरूप बनाए रखें। फ़िराक़ गोरखपुरी पर अच्छी सामग्री दी है। आपका सम्पादकीय 'सदी के अंत में बच्चा' पसंद आया- **रामेश्वर संगीत, लखनऊ**। आपसे एक अनुरोध है एवं प्रार्थना है, एक सुझाव है वह यह कि आप नई कलम को भी लिखने की प्रेरणा दें- **मीरा चन्द्र, हिसार**। 'वागर्थ के पिछले कुछ अंक पढ़ने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। विशुद्ध तथा गंभीर साहित्य-पत्रिका के अकाल ग्रस्त परिप्रेक्ष्य में वागर्थ एक सुखद अनुभव है- **माधव सोनटक्के, औरंगाबाद**। आपके संपादन में 'साक्षात्कार' लघु पत्रिकाओं का शिखर बन गई थी। वागर्थ संग्रहणीय, स्तरीय व उल्लेखनीय पत्रिका साबित हो गई- **मांघीलाल यादव, राजनांदगाँव**। क्या शंभुमित्रा पर आप कोई सामग्री 'वागर्थ' में नहीं दे पाएंगे। यदा-कदा नाटक और चित्रकला पर भी सामग्री वागर्थ में आती रहे तो क्या बुराई है- **रमेश अनुपम, रायपुर**। वागर्थ सब तरह से अंग्रेजी प्रकाशनों, पत्रिकाओं से मुकाबला करके हिन्दी की श्रेष्ठता को सिद्ध कर रही है। वागर्थ ने थोड़े ही समय में हिन्दी की सूख रही धारा को वेगवान, जलपूर्ण बनाया है- **ओमप्रकाश वर्मा, जमशेदपुर**। एक वर्ष पहले वागर्थ पर नजर पड़ी थी। खरीदा और अब तक यह क्रम जारी है। कभी सारिका, साप्ताहिक हिन्दुस्तान और धर्मयुग का सक्रिय पाठक था, इन पत्रिकाओं ने तो अपना धर्म छोड़ दिया, लेकिन मैंने नहीं। आशा के अनुरूप 'वागर्थ' में अपनी क्षतिपूर्ति देख रहा हूँ। लेकिन कहानियों की संख्या कविताओं की तुलना में बहुत कम है- **भास्कर राव, रिसड़ा**। 'वागर्थ' की वेतन की तरह प्रतीक्षा करने का महत्वपूर्ण कारण सम्पादकीय भी होता है- **नन्दकिशोर नीलम, अलवर**। जून 97 अंक में 'पुल टूटता हुआ' संपादकीय में आपने कटु सच्चाई को व्यक्त किया तथा साहित्यकारों

के सामने एक ज्वलंत प्रश्न छोड़ा। इस पर गंभीरता से विचार करने की आवश्यकता है। जुलाई अंक की संपादकीय 'सदी के अंत में बच्चा' दिलों को छू गई- **अनिरुद्ध सिंह सेंगर 'आकाश', गुना।** गगन गिल की यात्रा कथा 'एक कंकर संशय' की पंक्तियाँ मानस पटल पर उभर रही हैं 'उसके लिए कोई सुख नहीं जो यात्रा नहीं करता', 'मनुष्यों के समाज में रहते हुए मनुष्य पापी हो जाता है, इसलिए भ्रमण करो।' आपकी संपादकीय हर बार की तरह टूटते पुल के लिए सेतु बनाने का आह्वान करती झकझोर उठी- **आशीष सिंह, लखनऊ।** 'वागर्थ' जैसी पत्रिका व संस्था के लिए मेरे मन में अलग से 'स्थान' है, मुझे ही खुद कहाँ अंदाजा था कि वागर्थ इस तरह से मेरे अंदर के सुधीर को मजबूत करेगी। 'सदी के अंत में बच्चा', मेरे जैसे पाठक के लिए यह संपादकीय एक जीवंत दस्तावेज है।मैंने उन समझदार माता-पिताओं को भी देखा है जो बच्चे को रटा कर, मारकर ट्विंकल-ट्विंकल लिटिल स्टार व गुडमार्निंग सिखाते हैं। इस तरह के खुराक के साथ बच्चों का पालन-पोषण होगा तो उसमें अपने संस्कारों व जड़ों के प्रति मजबूती कहाँ से आएगी। मेरा अंग्रेजी भाषा से कोई विरोध नहीं, मुझे उस मानसिकता से पीड़ा है। आपने भारत की शिक्षा प्रणाली को सही ढंग से रोखांकित किया है- **सुधीर, गोवा।**

संदर्भ

खड़ी बोली ने जो किया है

'वागर्थ' के अप्रैल अंक में तरुण कुमार ने अपने महत्त्वपूर्ण लेख हिन्दी संस्कृत और भाषाई अंतर्विरोध में एक महत्वपूर्ण प्रश्न्न उठाया है। वे लिख्रते हैं, 'एक सवाल बार-बार उठाया जाता है कि जहां मध्य काल ने हिन्दी क्षेत्र में दलित और पिछड़ समाज के अनेक अच्छे और बड़े कवियों-संत साहित्य के कवियों का जन्म दिया, मीराबाई जैसी महान महिला कवि को जन्म दिया, वहीं शिक्षा के प्रचार-प्रसार के आधुनिक युग में इन समाजों से उत्पन्नकवि-लेखकों की संख्या नगण्य क्यों हैं ? मुझे लगता है कि इस सवाल का एक हल हिन्दी क्षेत्र के उक्त भाषाई अंतर्विरोध्र (खड़ी बोली बनाम हिन्दी की बोलियां-संपादक) में छिपा है। हम कल्पना करें कि संस्कृत को छोड़ यदि विद्यापति को 'देसिल बयना' कबीर को 'भाखा' और ऐसे ही रविदास सूर, तुलसी, मीरा, रहीम, रसखान आदि को अपने रोजमर्रा के जीवन की बोली में लिखने की छूट न होती या किसी कारणवश वे इसमें न लिख पाने की विवशता के शिकार हुए होते,तो क्या हुआ होता?' तरुण कुमार से हमारी पूर्ण सहमति है। पिछले सौ वर्षों का हिन्दी साहित्य एक खास वर्ग का साहित्य है, क्योंकि इसकी प्रमुख भाषा खड़ी बोली एक खास वर्ग की भाषा है। जिस पर भी यह वर्ग खड़ी बोली को सहजता से आत्मसात नहीं कर सका— इसका प्रमाण यह है किअब अनेक विद्वान अशुद्ध हिन्दी लिखते हैं। दिनकर ने विस्तार से दिखाया हे कि प्रसाद की 'कामायनी' में व्याकरण ओर भाषा की कितनी भद्दी भूलें हैं। मेरठ से आगरा तक यानी सौ डेढ़ सौ किलोमीटर की भाषा पूरे देश के हिन्दी भाषियों की साहित्यिक भाषा कैसे बन गई— यह एक दिलचस्प कहानी है। यह वस्तुत: उर्दू के, जो एक सामंती भाषा थी, अपहरण का मामला है। इस प्रक्रिया मेंहिन्दी भाषी जन अपनी स्वाभाविक अभिव्यक्ति से साथ धो बैठे। आज भी ब्रजभाषा, अवधी, भोजपुरी आदि में साहित्य लिखा जाता है, किन्तु उसका कोई साहित्यिक मूल्य नहीं है। यदि खड़ी बोली का साम्राज्यवाद कायम न हुआक होता, तो शायद हिन्दी जन अपनी अभिव्यक्ति से वंचित न होते और हिन्दी साहित्य में तरह-तरह की वाणी सुनाई पड़ती। लेकिन क्या अब इतिहास को पीछे ले जाया सकता है? शायद नहीं। खड़ी बोली इस समय हिन्दी जाति की एकता की भाषा है। इस एकता को मजबूत करते हुए ऐसा प्रयास किया जाना चाहिए कि प्रत्येक हिन्दी भाषी खड़ी बोली को अपनी स्वाभाविक भाषा बना सके।

(दूसरा शनिवार : 4 सितंबर 1997)

पत्रिका संबंधी विवरण

पत्रिका का नाम	:	वागर्थ
प्रकाशन की अवधि	:	मासिक
प्रकाशक व मुद्रक का नाम	:	डॉ. कुसुम खेमानी
राष्ट्रीयता	:	भारतीय
पता	:	मंत्री, भारतीय भाषा परिषद 36-ए, शेक्सपीयर सरणी, कलकत्ता- 700 017
संपादक का नाम	:	डॉ. प्रभाकर श्रोत्रिय
राष्ट्रीयता	:	भारतीय
पता	:	निदेशक, भारतीय भाषा परिषद 36-ए, शेक्सपीयर सरणी, कलकत्ता- 700 017
मुद्रण का स्थान	:	सुराना प्रिंटिंग वर्क्स, 205, रवींद्र सरणी, कलकत्ता- 700 007
स्वामित्व	:	भारतीय भाषा परिषद 36-ए, शेक्सपीयर सरणी, कलकत्ता- 700 017

मैं कुसुम खेमानी घोषणा करती हूं कि उपर्युक्त विवरण मेरी अधिकतम जानकारी एवं विश्वास के अनुसार सही है।

हस्ताक्षर
डॉ. कुसुम खेमानी

वागर्थ : एजेन्सी के नियम

1. एजेन्सी को कम से कम 10 अंक वी.पी.पी. से मंगवाने होंगे ।
2. यदि एजेन्सी पहले ही कुल अंकों की राशि जमा कर देगी तो पत्रिका उसे रजिस्टर्ड पार्सल से भेजी जाएगी । डाक-व्यय परिषद् उठायेगी ।
3. यदि वी.पी.पी. वापस आ जाती है तो विक्रेता के अनुरोध पर दूसरी बार भेजे गए अंकों के कमीशन में से पूर्व में भेजी गयी वी.पी.पी. का खर्च भी काटा जाएगा ।
4. राशि जमा करने वाले विक्रेता को बैंक ड्राफ्ट या मनीआर्डर **'वागर्थ 'भारतीय भाषा परिषद'** के नाम से भेजने होंगे ।
5. बिना बिके अंक वापस नहीं लिए जाएंगे।
6. कमीशन आदि की विस्तृत जानकारी के लिए कृपया प्रसार-सहायक वागर्थ को लिखें।

वागर्थ प्राप्ति स्थान

(स्थानाभाव के कारण विस्तृत सूची नहीं छाप रहे हैं।)

दिल्ली : वाणी प्रकाशन, गीता बुक सेन्टर, सेंट्रल न्यूज एजेंसी, डी.के. एजेंसी।

प0 बंगाल : कलकत्ता-हावड़ा (कई जगह), अण्डाल (दो स्थान), दुर्गापुर।

बिहार : पटना, भागलपुर (तीन स्थान), किशनगंज , डाल्टनगंज (दो स्थान), दरभंगा, समस्तीपुर, पूर्णिया, बोकारो, रांची, खगड़िया,नालन्दा (दो स्थान), जमालपुर, छपरा, सिवान, बेगूसराय (दो स्थान), नवादा, बक्सर, गया (दो स्थान), मधेपुरा/ हाजीपुर/ पूर्वी चम्पारण/ जमशेदपुर।

मध्य प्रदेश : रायपुर (तीन स्थान), भोपाल (तीन स्थान), बालाघाट (दो स्थान), राजनांदगांव, खण्डवा, जबलपुर, दमोह, इन्दौर, अम्बिकापुर, देवास, मनेन्द्रगढ़,विदिशा, रतलाम, नीमच, दल्ली राजहरा, गुना, शहडोल/ परासिया/ बस्तर/ ग्वालियर/ बिलासपुर (दो स्थान)/ गोदरीपाढ़ा/चिरमिरी, अकलतरा, भिंड/ कटनी।

उत्तर प्रदेश : लखनऊ , कानपुर (तीन स्थान), इलाहाबाद (दो स्थान), वाराणसी (तीन स्थान),गोरखपुर (तीन स्थान), बलिया, देहरादून, पिथौरागढ़, अलीगढ़, बरेली, जौनपुर,सहादतपुर, श्रीनगर।

हरियाणा : अंबाला छावनी/ पंचकूला / पिलानी/ कैथल।

महाराष्ट्र : उल्हास नगर/ मुंबई (दो स्थान)।

राजस्थान : जैसेलमेर, जोधपुर, ।

पंजाब : चंडीगढ़, पटियाला।

सिक्किम : गंगटोक।

मणिपुर : इम्फाल।

आंध्र प्रदेश : हैदराबाद।

उड़ीसा : बलांगीर।

हिमाचल प्रदेश : शिमला।

सर्वोदय के रेलवे स्टेशन स्थित स्टालों पर : हावड़ा, भागलपुर, रायपुर, कानपुर सेन्ट्रल, वाराणसी

ए0 एच0 व्हीलर के रेलवे स्टेशन स्थित निम्न स्टालों पर :—
दिल्ली, वाराणसी, लखनऊ, मुगलसराय, इलाहाबाद, कानपुर, गोरखपुर, मथुरा, मुरादाबाद, पटना, रांची, गया, भागलपुर, बण्डेल, बर्दवान,चितरंजन, आद्रा, चक्रधरपुर, इटारसी, जबलपुर, बिलासपुर, गुवाहाटी, सिलीगुड़ी, भुवनेश्वर, धनबाद।

इस अंक के लेखक

केसरी कुमार : 1, राजन्द्र नगर, पटना-800016/ **विजय :** 115 बी, पाकेट जे एण्ड के, दिलशाद गार्डन, दिल्ली-110095/ **एन. सिंह :** अध्यक्ष, हिंदी विभाग, राजकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय, देवबन्द- 247554 (सहारनपुर)/ **राजेश जोशी :** एम.आई.जी. 99, सरस्वती नगर, भोपाल- 462003/ **नवलकिशोर :** च-6, सेक्टर-5, उदयपार्क, हिरणमगरी, उदयपुर- 313002/ **शिवकुमार मिश्र :** 17, मानसरोवर पार्क, पंचायत हास्पिटल रोड, वल्लभ विद्यानगर-388120 (गुजरात)/ **बादशाह हुसैन रिज़वी :** 26, जाफस बाजार, सब्जी मंडी, गोरखपुर- 273001/ **इन्दुबाली :** 1541/18-डी, चण्डीगढ़- 160018/ **विष्णुदेव तिवारी :** तिवारीपुर, पो.- दहिवर, जिला- बक्सर-802116/ **प्रभु नारायण वर्मा :** बैंक ऑफ बड़ौदा, देवीगंज मार्ग, अम्बिकापुर- 497001/ राजेन्द्र परदेसी : 326, रामगुलाम टोला, देवरिया- 274001/ **चैतन्य त्रिवेदी :** 16ए, अन्नपूर्णा नगर, अन्नपूर्णा मार्ग, इन्दौर- 452009/ **अवध नारायण मुद्गल :** बी-105, वर्धमान अपार्टमेंट्स, मयूर विहार फेज-1 विस्तार, दिल्ली- 110091/ **रामकुमार तिवारी :** ए/47, प्रियदर्शिनी नगर, बिलासपुर/ **अभिज्ञात :** 71, ब्राह्मणपाड़ा, पातुलिया, टीटागढ़- 743188, उत्तर 24 परगना/ **राजेन्द्र गौतम :** बी-226, राजनगर, पालम कॉलोनी, नई दिल्ली- 110045/ **कुमार अरुण :** हिम्मतपुर फुलवारी, दिघवारा- 841207/ **ज्ञान चतुर्वेदी :** ए-40, अलकापुरी, भोपाल- 462024/ **रामचंद्र तिवारी :** सरस्वती सदन, बेतियाहाता, गोरखपुर/ **हसन जमाल :** नियर पन्ना निवास, लोहारपुरा, जोधपुर - 342002/ **कुमार पंकज :** 3/343, मालवीय नगर, जयपुर/ **मधुसूदन साहा :** क्वा. सं.- बी/223, सेक्टर-1, राउरकेला- 769008/ **शशिकला त्रिपाठी :** प्रवक्ता हिंदी, बसन्त महिला महाविद्यालय, राजघाट, वाराणसी/ **कृष्ण बिहारी मिश्र :** 7-बी, हरिमोहन राय लेन, कलकत्ता - 700015/ **हरिमोहन :** पो.बा.नं. 20, श्रीनगर, गढ़वाल- 246174/ **कुसुम जैन :** कलकत्ता/ डॉ. नगेन्द्र चौरसिया : 2-ई, घोषाल स्ट्रीट, कलकत्ता- 700019/ **मनीषा झा :** द्वारा- श्री जी. के. झा, 18-डी, सुकियस लेन, कलकत्ता- 700001/ **संजय भारती :** डेंगापाड़ा, रेलवे प्लाट नं. 20, कांचरापाड़ा/ **नागेश्वर शर्मा :** नलिनी बसु रोड, मानिकतल्ला, कांचरापाड़ा- 543154।

वागर्थ अक्टूबर १९९७ Vagarth October. 1997
रजि. नं. 61730/95 ❑ डाक रजि. नं. WB/EC-373

सौजन्य

रामेश्वर टांटिया स्मृति न्यास

4, शरत चटर्जी एवेन्यू
कलकत्ता- 700 029
फोन : 220-8832

प्रकाशक : डॉ. कुसुम खेमानी द्वारा भारतीय भाषा परिषद, 36ए, शेक्सपीयर सरणी, कलकत्ता-17 के लिए मुद्रित एवं प्रकाशित
मुद्रक : सुराना प्रिंटिंग वर्क्स, 205, रवीन्द्र सरणी, कलकत्ता- 700007
संपादक : प्रभाकर श्रोत्रिय